अनुशासन संहिता

आचार्य महाप्रज्ञ

अनुशासन संहिता

प्रकाशन

जैन विश्व भारती, लाडनूं

अनुशासन संहिता

आचार्य महाप्रज्ञ

संपादन/अनुवाद :
साध्वी विश्रुतविभा

प्रकाशक :
जैन विश्व भारती
लाडनूं-३४१ ३०६ (राजस्थान)

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

सौजन्य :
स्व. सेठ कुशालचन्द भंवरलाल दूगड़ की पुण्य स्मृति में
''शासनसेवी'' श्री बुद्धमल दूगड़
सुरेन्द्र कुमार, तुलसी कुमार, कमल कुमार दूगड़
रतनगढ़–कोलकाता
द्वारा के.बी.डी. फाउण्डेशन, कोलकाता–रतनगढ़

प्रेरणा :
''श्रद्धा की प्रतिमूर्ति'' श्रीमती सोहनीदेवी दूगड़

द्वितीय संस्करण : २००६

मूल्य : ५०.००

मुद्रक : शांति प्रिंटर्स एण्ड सप्लायर्स, दिल्ली

प्रस्तुति

अनुशासन आधार संघ रो,
अनुशासन ही प्राण है।
अनुशासन है पंथ प्रगति रो,
अनुशासन ही त्राण है।
ज्योतिर्मय चिन्मय दीप हरे अंधार हो।

आचार्य तुलसी की इस वाणी में अनुशासन के प्राण तत्त्व के अनेक स्पंदन हैं। ये स्पंदन व्यक्ति के चरित्र का निर्माण करते हैं और विकास यात्रा का पथ प्रशस्त करते हैं।

आचार्य भिक्षु ने इस सचाई का अनुभव किया और अनुशासन को बहुत मूल्य दिया। उन्होंने अनुशासन के अनेक पहलुओं पर चिंतन किया और उसके आधार पर कुछ लिखत–मर्यादा पत्र लिखे। उन्हीं के आधार पर अनुशासन संहिता का निर्माण किया गया है।

संगठन की आधारशिला है अनुशासन। संगठन बनाने वाले समान उद्देश्य को लेकर एकत्र होते हैं और वे अनुशासन के द्वारा एकत्र होने को चिरस्थायी बना सकते हैं।

आचार्य भिक्षु ने मनुष्य की प्रकृति को समझने का प्रयत्न किया और साथ-साथ उसे दिशा और दृष्टि देने का भी प्रयत्न किया। इसी का परिणाम है कि तेरापंथ में एक आचार्य, एक विचार और एक सामाचारी का घोष करने की अर्हता है, क्षमता है।

आचार्य भिक्षु ने संगठन के साधक और बाधक दोनों तत्त्वों का सूक्ष्मेक्षिकापूर्वक विश्लेषण किया। वह किसी भी संगठन के लिए ध्यातव्य है और उपयोगी है।

आचार्य भिक्षु के भाष्यकार श्रीमज्जयाचार्य ने अनुशासन और संगठन के सूत्रों को विस्तार दिया है। अट्ठाईस हाजरी—साधु-साध्वियों की उपस्थिति में मर्यादा पत्र के वाचन का सृजन कर प्रकीर्ण रत्नों को एक माला में गुंफित किया है। उन मालाओं से संगठन का वक्ष आज भी सुशोभित हो रहा है।

जयाचार्य ने एक मनश्चिकित्सक की भांति मानसिक रोगी की नब्ज पर हाथ रखा और उसका

सम्यक् उपचार किया।

आचार्य भिक्षु, जयाचार्य–इन दोनों महान् आचार्यों के अनुशासन-सूत्रों को आधुनिक रूप देने का कार्य किया आचार्य तुलसी ने। 'हाजरी', 'लेखपत्र', 'मर्यादावलि' आदि रूपों में उनके अवदानों का साक्षात किया जा सकता है।

तेरापंथ की यह त्रिवेणी वास्तव में अनुशासन और संगठन की त्रिवेणी है। इसमें निष्णात व्यक्ति अनुशासन को तिलक बना कर विकास की दिशा में आगे बढ़ सकता है।

तेरापंथ के संगठनात्मक सौष्ठव के प्रति अनेक बार जिज्ञासाएं आती हैं। इस पुस्तक से उन्हें समाधान मिलेगा। आचार्य भिक्षु की निर्वाण द्विशताब्दी समारोह के अवसर पर उनकी दूर दृष्टि और सूक्ष्म दृष्टि को समझने और परखने का पाठक को अवसर मिलेगा।

यह कार्य समय साध्य और श्रम साध्य है फिर भी निष्ठा और एकाग्रता कार्य को सफलता की वेदी पर प्रतिष्ठित कर देती है। राजस्थानी पद्यों का हिन्दी अनुवाद और समायोजन साध्वी विश्रुतविभा ने किया। इसका संपादन मुनि धनंजय कुमार ने किया है। आचार्य भिक्षु के मूल ग्रंथों के पाठ मिलान में मुनि

कुलदीपजी ने काफी श्रम किया है।

बहुत पहले से ही आचार्य तुलसी की अंतःप्रेरणा थी कि अनुशासन और मर्यादा पर एक ग्रंथ तैयार हो। वह प्रेरणा और परिकल्पना आज साकार हुई है। इससे अंतर्मन प्रमुदित है।

७ अगस्त २००४ **आचार्य महाप्रज्ञ**

सिरियारी

अनुक्रम

आत्मानुशासन से उपजा अनुशासन	१
अनुशासन का उद्गम स्रोत	२
परमार्थ दृष्टि	३
अनुशासन : अंतःप्रेरणा	४
अनुशासन (१)	५
अनुशासन (२)	६
अनुशासन सूत्र (१)	७
अनुशासन सूत्र (२)	९
अनुशासन सूत्र (३)	१०
अनुशासन सूत्र (४)	१२
अनुशासन सूत्र (५)	१३
अनुशासन सूत्र (६)	१४
अनुशासन का मूल्य	१५
अनुशासन का दृष्टिकोण	१६
अनुशासन का प्रयोग (१)	१७
अनुशासन का प्रयोग (२)	१९
अनुशासन का मूल्यांकन	२१
अनुशासन : सकारात्मक दृष्टिकोण (१)	२२

अनुशासन : सकारात्मक दृष्टिकोण (२)	२४
अनुशासन : सकारात्मक दृष्टिकोण (३)	२५
अनुशासन का आधार (१)	२६
अनुशासन का आधार (२)	२७
अनुशासन और चिंतन की स्वतंत्रता	२९
अनुशासन के बाधक तत्त्व	३१
मौलिक मर्यादा (१)	३२
मौलिक मर्यादा (२)	३३
मौलिक मर्यादा (३)	३४
मौलिक मर्यादा (४)	३५
मौलिक मर्यादा (५)	३६
मर्यादाकरण के उद्देश्य	३७
मर्यादा के समान स्वर	३९
मर्यादा का अनुमोदन	४०
मर्यादा प्रबंधन का अधिकार	४१
मर्यादा-निष्ठा	४३
संगठन और श्रावक (१)	४४
संगठन और श्रावक (२)	४६
संगठन और बौद्धिक क्षमता	४७
संगठन और योग्यता	४८
संगठन : योग्यता का विमर्श	५०
संगठन और प्रमोद भावना	५१
संगठन और एकल विहार (१)	५२

संगठन और एकल विहार (२) ५४
स्वच्छन्दता : संगठन की बाधा ५५
संगठन का सूत्र (१) ५७
संगठन का सूत्र (२) ५८
संगठन का सूत्र (३) ५९
संगठन का सूत्र (४) ६१
संगठन और निस्पृहता ६२
संगठन और आस्था ६३
संगठन और अहंकार ६४
स्वार्थ : संगठन की समस्या ६५
दोषकरण : संगठन की समस्या (१) ६६
दोषकरण : संगठन की समस्या (२) ६७
दोषकरण : संगठन की समस्या (३) ६८
दोष : समस्या और समाधान ७०
दोष-विशुद्धि का उपाय ७१
संगठन का बाधक तत्त्व ७२
संगठन का बाधक तत्त्व : अविनय ७३
संगठन का बाधक तत्त्व : दलबंदी (१) ७४
संगठन का बाधक तत्त्व : दलबंदी (२) ७६
दलबंदी ७८
दलबंदी : एक नया विकल्प ७९
पारस्परिक संबंध (१) ८०
पारस्परिक संबंध (२) ८२

पारस्परिक व्यवहार के सूत्र (१)	८३
पारस्परिक व्यवहार के सूत्र (२)	८५
पारस्परिक व्यवहार के सूत्र (३)	८७
पारस्परिक व्यवहार के सूत्र (४)	९०
सौमनस्य का सूत्र	९२
व्यवहार-विश्लेषण	९३
गण वृद्धि का पहला पद	९४
गण वृद्धि का दूसरा पद	९५
गण वृद्धि का तीसरा पद	९६
गण वृद्धि का चौथा पद	९८
गण वृद्धि का पांचवां पद	१००
गण वृद्धि का छठा पद	१०१
गण वृद्धि का सातवां पद	१०२
गण वृद्धि का आठवां पद	१०३
गण वृद्धि का नौवां पद	१०४
विश्वास गुरु के प्रति	१०५
मस्तिष्क प्रशिक्षण की प्रविधि (१)	१०६
मस्तिष्क प्रशिक्षण की प्रविधि (२)	१०८
मस्तिष्क प्रशिक्षण की प्रविधि (३)	१०९
मस्तिष्क प्रशिक्षण की प्रविधि (४)	१११
मस्तिष्क प्रशिक्षण की प्रविधि (५)	११२
मस्तिष्क प्रशिक्षण की प्रविधि (६)	११३
मस्तिष्क प्रशिक्षण की प्रविधि (७)	११४

मस्तिष्क प्रशिक्षण की प्रविधि (८)	११५
अविनीत का लक्षण (१)	११७
अविनीत का लक्षण (२)	११८
अविनीत-चरित्र (१)	१२०
अविनीत-चरित्र (२)	१२१
अविनीत-चरित्र (३)	१२२
अविनीत-चरित्र (४)	१२३
अविनीत का व्यवहार (१)	१२५
अविनीत का व्यवहार (२)	१२६
अविनीत का व्यवहार (३)	१२८
अविनय-जनित व्यवहार (१)	१३०
अविनय-जनित व्यवहार (२)	१३१
अविनय-जनित व्यवहार (३)	१३३
अविनय-जनित व्यवहार (४)	१३५
अविनय-जनित व्यवहार (५)	१३६
अविनय और संगठन (१)	१३७
अविनय और संगठन (२)	१३९
विनीत का लक्षण	१४१
विनीत का व्यवहार	१४३
विनीत और संगठन	१४५
विनय का प्रयोजन	१४६
विनम्रता	१४७
संबंध विच्छेद की मर्यादा	१४८

संदेह १४९
सेवा व्यवस्था के सूत्र (१) १५०
सेवा व्यवस्था के सूत्र (२) १५१
विनय का व्यावहारिक रूप (१) १५३
विनय का व्यावहारिक रूप (२) १५४
चरित्र : विनीत और अविनीत का १५५
सैद्धांतिक मतभेद का समीकरण (१) १५६
सैद्धांतिक मतभेद का समीकरण (२) १५७
सैद्धांतिक मतभेद : समीकरण की प्रक्रिया १५८
ममत्व विसर्जन १५९
ममत्व विसर्जन का सूत्र (१) १६१
ममत्व विसर्जन का सूत्र (२) १६२
सामुदायिक व्यवस्था १६३
संघ बहिर्गमन व्यवस्था १६४
गण पृथक् व्यक्ति के लिए विधान १६५
गण से पृथक् होने की स्थिति में १६६
गण से पृथक् हो जाने पर (१) १६७
गण से पृथक् हो जाने पर (२) १६८
गण से पृथक् हो जाने पर (३) १६९
गण से पृथक् हो जाने पर (४) १७०
सेवा की व्यवस्था १७१
आहार विवेक व्यवस्था (१) १७३
आहार विवेक व्यवस्था (२) १७५
आहार की समस्या १७७

वस्त्र-व्यवस्था	१७८
धर्मोपकरण	१७९
संविभाग	१८१
आचार्य का नवाचार (Protocol)	१८२
आचार्य : वंदना व्यवहार	१८३
आचार्य : आसन	१८४
आचार्य का दायित्व	१८५
आचार्य के प्रति युवाचार्य	१८६
उत्तराधिकार का प्रश्न	१८७
युवाचार्य पद (१)	१८९
युवाचार्य पद (२)	१९१
युवाचार्य पद (३)	१९२
युवाचार्य पद (४)	१९४
पृच्छा का प्रयोग	१९४
दीक्षा देने की अर्हता	१९५
शिष्य प्रथा पर चिंतन	१९६
व्यक्ति की पहचान	१९८
अग्रणी : कर्तव्यबोध	२००
शांतिपूर्ण सहवास	२०१
परिचय के प्रति जागरूकता	२०२
व्यक्ति की पहचान	२०४
केवल योग्यता का सम्मान	२०५
गंभीर दृष्टि का पर्यालोचन	२०६
स्वार्थातीत चेतना	२०७

वीतराग साधना का संकल्प	२०८
सहन करने की शक्ति	२०९
विश्वास उपजाने का मंत्र	२१०
नियोजन का सूत्र	२१२
संस्कार निर्माण का सूत्र	२१३
स्वभाव परिवर्तन का निर्देश (१)	२१५
स्वभाव परिवर्तन का निर्देश (२)	२१६
मुझे शिक्षा दो (१)	२१८
मुझे शिक्षा दो (२)	२२०
मुझे शिक्षा दो (३)	२२२
मुझे शिक्षा दो (४)	२२४
मुझे शिक्षा दो (५)	२२५
मुझे शिक्षा दो (६)	२२६
मुझे शिक्षा दो (७)	२२८
प्रकृति की जटिलता	२२९
प्रकृति की क्षुद्रता (१)	२३०
प्रकृति की क्षुद्रता (२)	२३१
प्रकृति की क्षुद्रता (३)	२३२
प्रकृति की क्षुद्रता (४)	२३३
प्रकृति की क्षुद्रता (५)	२३४
प्रकृति की क्षुद्रता (६)	२३५
प्रकृति की महानता (१)	२३६
प्रकृति की महानता (२)	२३७
प्रकृति की महानता (३)	२३९

आत्मानुशासन से उपजा अनुशासन

सूर्य स्वयं प्रकाशी है इसीलिए उससे प्रकाश-रश्मियां निकलती हैं और पदार्थ जगत को प्रकाशित करती हैं।

जो स्वयं प्रकाशी नहीं होता, वह दूसरों को प्रकाश नहीं दे सकता।

आचार्य भिक्षु ने जो अनुशासन दिया, वह आश्चर्य का विषय बना हुआ है, किन्तु हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। क्योंकि उन्होंने आत्मानुशासन को सिद्ध किया और उसकी सिद्धि के बाद मर्यादाओं का निर्माण किया।

कस्तूरी घिसे बिना सुगंध नहीं देती, अगरवर्तिका भी जले बिना सुवास नहीं देती। इस सचाई को भी जानना चाहिए कि आत्मानुशासन में पगी हुई वाणी अनुशासन की प्रस्तरीय लकीरें खींच देती हैं।

१ जनवरी
२००४

अनुशासन का उद्गम-स्रोत

आचार्य भिक्षु आत्मशुद्धि के लिए साधना कर रहे थे। उनके मन में न कोई पंथ था, न कोई संघ और न कोई संगठन। संगठन के बिना अनुशासन की कल्पना नहीं की जा सकती। कितने मार्मिक हैं आचार्य भिक्षु के ये शब्द—

म्हे या न जांणता म्हांरौ मारग जमसी,
नै म्हांमै यूं दिख्या लेसी,
नै यूं श्रावक श्राविका हुसी।
जाण्यौ आत्मा रा कारज सारसां,
मर पूरा देसां,
इम जाणनै तपस्या करता।[1]

हम ऐसा नहीं जानते थे कि हमारा मार्ग जमेगा, हमारे संघ में इस प्रकार स्त्री-पुरुष दीक्षा लेंगे और इस प्रकार श्रावक-श्राविका होंगे। हमने सोचा—आत्मा का कार्य सिद्ध करेंगे, अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्राण न्योछावर कर देंगे। यह सोचकर हम तपस्या करते थे।

२ जनवरी
२००४

१. भिक्खु दृष्टांत : दृ २७६, पृ. ११०

परमार्थ दृष्टि

आचार्य भिक्षु ने देखा--'हमारा प्रबल विरोध हो रहा है। हमें स्थान और आहार की प्राप्ति भी कठिनाई से हो रही है। श्रावक-गण भी हमारे पास आने में सकुचाता है, पर मुझे इसकी कोई चिन्ता नहीं, कोई भय नहीं। मैंने आत्म-साधना के लक्ष्य से घर छोड़ा है। वह लक्ष्य मेरे पास है, उसे कोई छीन नहीं सकता। अब मुझे अपनी साधना में समय का अधिक नियोजन करना है।'

जिस व्यक्ति के सामने केवल आत्मा है और केवल आत्मशुद्धि है, उसका दृष्टि-घट परमार्थ की आंच से पका हुआ होता है और वही जनता के लिए उपयोगी बनता है।

परमार्थ की चेतना एक ऐसा अनबोला बोल है जो अकर्ण को भी सकर्ण बना देता है। आचार्य भिक्षु का वही बोल आकाश-मंडल में आज भी गुंजित हो रहा है।

३ जनवरी
२००४

अनुशासन : अंतःप्रेरणा

आचार्य भिक्षु ने अनुशासन के सूत्रों का निर्माण परिस्थितियों के दीर्घकालीन अध्ययन के बाद किया था। साधु-संस्था में आने वाले व्यक्ति वीतराग नहीं होते। उनमें राग और द्वेष दोनों विद्यमान होते हैं। यदि उन्हें उपशांत रखने की अनुकूल स्थिति न मिले तो वे आवेश में बदल सकते हैं। आवेश के क्षणों में कलह-कदाग्रह की संभावना भी हो सकती है।

आचार्य भिक्षु ने साधु-संस्था में कलह-कदाग्रह की स्थिति को देखा और उनकी अंतरात्मा आंदोलित हुई। साधु-संस्था में इन वृत्तियों का परिष्कार होना चाहिए। स्थिति का चित्रण उनके शब्दों में स्पष्ट है। उन्होंने मर्यादाओं के निर्माण में उस स्थिति का उद्देश्य के रूप में अंकन किया है।

४ जनवरी
२००४

अनुशासन (१)

जयाचार्य ने खेतसीजी स्वामी, वेणीरामजी स्वामी, हेमराजजी स्वामी और ऋषिराय (तृतीय आचार्य) का गण-स्तंभ के रूप में उल्लेख किया है। उन्होंने बहुत सहा। जिनकी भुजा पर गण का भार होता है वे भी विनम्र व्यवहार करते हैं तो फिर औरों का क्या? क्योंकि आचार्य का स्थान सर्वोपरि है।

सतजुगी नै वैणीरामजी, बलै हैम अनै ऋषराया।
गण स्तंभ ज्यूं च्यारूं महामुणी, समभाव सह्या तज माया।।
गण भार-धुरा ज्यांरी-भुजा, ते पिण मान अहंकार मिटाया।
तो औरां री कुणसी चली, गुरु सर्व ऊपर कहिवाया।।[१]

खेतसीजी स्वामी, वेणीरामजी स्वामी, हेमराजजी स्वामी और और ऋषिराय (तृतीय आचार्य) ये चारों महामुनि गण के स्तंभ जैसे थे। उन्होंने अनुशासन को निश्छल मन और समभाव से सहा।

जिनकी भुजा पर शासन की धुरा का भार था, उन्होंने भी अनुशासन के समय अहंकार प्रदर्शित नहीं किया, तो दूसरों की क्या बात? गुरु सबसे ऊपर होता है।

५ जनवरी
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ६९, शिक्षा री चोपी, ढाल १.३९,४०

अनुशासन (२)

स्वच्छन्द मत रहो, गुरु के छन्द (अभिप्राय, आज्ञा) को समझ कर चलो। इसका प्रायोगिक रूप है विहार, यात्रा। वह आचार्य की इच्छानुसार हो। अपनी इच्छा से विहार का कोई निर्णय मत करो।

आण सुगुरु नीं आराधियै,
सुविनीत सुगुण सुखदाया हो लाल।
सेषै काल चउमासै विचरणौ,
अगवांण आण हुलसाया हो लाल॥
छांदे सुगुरु नै चालणौ,
चउमासौ उतर्‌यां चित चाह्या।
(गुरु ने)पहिलां पूछ्यां विण अन्य दिशा,
विण मरजी न विचरै मुनिराया ॥[१]

गुरु की आज्ञा की आराधना करो क्योंकि तुम सुविनीत हो, सद्‌गुण से सम्पन्न हो और सुखदायी हो। तुम अग्रणी हो, शेषकाल और चतुर्मास का प्रवास सहर्ष गुरु की आज्ञा के अनुसार करो।

गुरु के अभिप्राय के अनुसार चलना, यह सुविनीत का लक्षण है। चतुर्मास सम्पन्न होने के बाद तुम गुरु से बिना पूछे अपनी इच्छा से जाना चाहो वहां मत जाओ।

६ जनवरी
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ६६, शिक्षा री चोपी, ढाल १.६,७

अनुशासन सूत्र (१)

कुछ अनुशासन-सूत्र साधु-साध्वियों के लिए समान हैं, फिर भी साध्वियों के लिए स्वतंत्र रूप से लिखित लिखत में कुछ बिन्दु ज्ञातव्य भी हैं–

'किण ही साध आर्य्यां मांहै दोष देखे तो ततकाल धणी नैं कहिणो, कै गुरां नै कहिणो, पिण औरां ने कहिणो नहीं।'

'किण ही रा टोला सूं न्यारा होण रा परिणाम हुवे जब पिण ओरां री परती कहिण रा त्याग छै।'

'आप में टोला रा साध-साधवियां में साधपणों सरधो तका टोला मांहि रहिजो। ठागा सूं मांहै रहिण रा अनंता सिद्धां री साख कर नै पचखांण छै।'

'टोला मांहै पाना लिखै बलै कोइ साधु-साधवियां देवै अथवा ग्रहस्थ आगै जाचै ते टोला सूं छूटै न्यारी हुवै ते साथै लै जावण रा त्याग। परत पाना साधां नै सूंप देणा। पाना साधां रा छै, साथै ले जावणां नहीं।'

'पातरा लोट टोला मांहै करै, जाचै ते पिण साथै ले जावणां नहीं, टोला री नेश्राय छै, टोला मांहै छै, त्यां लगै उणरा छै। कपड़ो, ऊजलो वावरीयो नहीं छै, नवो छै, ते पिण साथ लै जावणौ नहीं, टोला री नेश्राय छै।'

'परत पाना जाचणा ते बड़ा री नेश्राय जाचणा, आप री नेश्रा जाचणा नहीं।'

'कर्म रे जोगे टोला बारै नीकलै अथवा बारै काढै तो टोला मांहै

उपगरण कीधा ते टोळा री नेश्राय छै ते बारै ले जावण रा त्याग छै।[1]

किसी साधु या साध्वी में दोष देखो तो उसी समय दोष सेवन करने वाले को बताओ अथवा गुरु को बताओ किंतु दूसरों को मत बताओ।

किसी साध्वी का गण से अलग होने का विचार हो, उस समय दूसरों की हल्की बात करने का त्याग है।

स्वयं में और गण के साधु-साध्वियों में साधुपन माने तब तक गण में रहे। वंचनापूर्वक संघ में रहने का अनंत सिद्धों की साक्षी से त्याग है।

गण में रहते हुए कोई ग्रंथ की प्रतिलिपि करे या कोई साधु-साध्वियां दे अथवा गृहस्थ से मांग कर लाए तो गण से अलग होते समय साथ ले जाने का त्याग है। प्रति और पन्ने गुरु को सौंप दें क्योंकि सारे पत्र साधुओं के हैं, उन्हें अपने साथ न ले जाए। पात्र, तुम्बा गण में रहते हुए बनाए अथवा मांग कर लाए उनको भी साथ में नहीं ले जाना है, क्योंकि वे गण की नेश्राय में हैं। गण में रहे तब तक तुम्हारे हैं। नया कपड़ा जो काम में नहीं लिया गया है, नया है उसे भी साथ में नहीं ले जाना है क्योंकि वह भी गण की निश्रा में है। प्रति पन्ना जांचे तो बड़ों की निश्रा में जांचे, अपनी निश्रा में नहीं जांचे।

कर्म योग के कारण गण से बाहर निकले अथवा बाहर निकाले तो गण में रहते समय जो उपकरण बनाए वे गण की निश्रा में हैं। उन्हें बाहर ले जाने का त्याग है।

७ जनवरी
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४७,४४८, सं. १८५० के लिखत का अंश

अनुशासन सूत्र (२)

सं. १८५२ के लिखत में साध्वियों के विषय में कुछ अनुशासन-सूत्र उपलब्ध हैं। शालीन व्यवहार की दृष्टि से वे बहुत मूल्यवान हैं।

'किण ही साधवी में दोष हुवै तो दोष री धणियाणी नै कहिणो, कै गुरां आगै कहिणो, पिण और किण ही आगै कहिणो नहीं। रहिसै-रहिसै और भूंडी जाणै ज्यूं करणो नहीं।'

'किण ही आर्य्यां दोष जाण नैं सेव्यो हुवे ते पाना में लिखिया बिना विगै तरकारी खाणी नहीं। कदाच कारण पडयां न लिखे तो और आर्य्यां नैं कहिणो, सायद कर ने पछै पिण वैगो लिखणो, पिण बिना लिख्यां रहिणो नहीं। आय नै गुरां नै मूंढा सूं कहिणो नही, मांहोमां अजोग भाषा बोलणी नहीं।'[१]

किसी साध्वी में दोष हो तो दोष सेवन करने वाली साध्वी को बताओ अथवा गुरु को बताओ किन्तु किसी दूसरे के सामने उसकी बात मत करो। गुप्त रूप से भी वैसी बात मत करो, जिससे उसकी अवमानना हो।

किसी साध्वी ने जानबूझकर दोष सेवन किया हो तो पन्ने में लिखे बिना विगय का वर्जन करे और व्यंजन भी नहीं खाए। कदाचित् किसी कारणवश नहीं लिखे तो दूसरी साध्वी को बताओ। साक्षी कर कुछ समय बाद लिखो, जल्दी लिखो, किन्तु बिना लिखे नहीं रहना है। गुरु के पास आकर मौखिक बोलकर मत बताओ। परस्पर अयोग्य भाषा का प्रयोग न करें।

८ जनवरी
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४७, सं. १८५२ के लिखत का अंश।

अनुशासन सूत्र (३)

आचार्य भिक्षु ने अनुभव किया कि साधु और साध्वी की मूल वृत्ति में कोई अंतर नहीं है। संघ से पृथक् होने के कारण साध्वी के सामने भी हो सकते हैं और वह पृथक् भी हो सकती है।

साध्वियों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए १८५२ का लिखत लिखा। उसका दूसरा अनुशासन सूत्र है—

'किण ही साध-साधवियां रा आंगुण बोल नै मन भांग नै फारण रा त्याग छै। खोटा सरधाय नै फारण रा त्याग छै। किण ही सूं साधुपणो पलतो दीसै नहीं अथवा किण ही सूं सभाव मिलतो दीसे नहीं अथवा कषायण धेठापणो जाण नैं कोइ कनै न राखै, तिण नै अलगी करै, अथवा खैत्र आछो न बतायां अथवा कपड़ादिक रे कारणै अजोग जाण नै टोला सूं दूर करती जाणै इत्यादिक अनेक कारण ऊपनै टोला सूं न्यारी पड़ै तो किण ही साध-साधवियां रा आंगुण बोलण रा त्याग छै।

हुंता अणहुंता खूंचणा काढण रा त्याग छै।

रहिसै-रहिसै लोका नै संका घाल नै आसता उतारण रा त्याग छै।[1]

किसी साधु-साध्वियों के अवगुण बताकर उनमें मन भेद कर तोड़ने का त्याग है। उनके प्रति वे दोषी हैं ऐसा विश्वास कर मन भेदने का त्याग है। किसी को साधुपन पालने में कठिनाई का

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४७, सं. १८५२ के लिखत का अंश।

अनुभव हो अथवा किसी को लगे। दूसरों से स्वभाव का मेल नहीं हो रहा है अथवा प्रबल कषाय वाली और ढीठ प्रकृति वाली जानकर कोई अपने पास न रखे, अलग थलग कर दे अथवा मनोनुकूल क्षेत्र न बताने पर, पात्र, वस्त्र आदि की मर्यादा का अतिक्रमण करने के कारण अयोग्य जानकर मुझे गण से अलग कर देंगे, यह सोचकर तथा इस प्रकार के अनेक कारणों के उत्पन्न होने पर वह गण से अलग हो जाए फिर भी उसे किसी भी साधु-साध्वियों के अवगुण बोलने का त्याग है।

यथार्थ, अयथार्थ दोष को फैलाने का त्याग है। छिपे-छिपे लोगों में शंका डाल कर आस्था कम करने का त्याग है।

९ जनवरी
२००४

अनुशासन सूत्र (४)

साधु संघ से पृथक् होकर स्वतंत्र रह सकते थे। किन्तु साध्वियों के लिए स्वतंत्र रहना कठिन होता। इस स्थिति को ध्यान में रखकर आचार्य भिक्षु ने कहा—कोई साध्वी संघ से पृथक् होकर दूसरे संघ में चली जाए तो भी संघ के साधु साध्वियों का अवर्णवाद न बोले। सं. १८५२ के लिखत में यह निर्देश उपलब्ध है।

'कदा कर्म जोगे तथा कषाय रे वस सर्व टोला रा साध-साधवियां नै असाध सरधै, आप में पिण असाधुपणों सरधै टोला सूं न्यारी परै अथवा भेषधार्‌यां मांहै जाए तो पिण अठीरा साध-साधवियां रा आंगुण बोलण रा त्याग छै।'[1]

कदाचित् कर्म योग से तथा कषाय के वशीभूत होकर गण के साधु-साध्वियों को असाधु माने, अपने आप में भी साधुपन नहीं मान कर गण से पृथक् हो जाए अथवा दूसरे सम्प्रदाय में चली जाए फिर भी गण के साधु-साध्वियों के अवगुण बोलने का त्याग है।

१० जनवरी
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४७, सं. १८५२ के लिखत का अंश।

अनुशासन सूत्र (५)

आचार्य भिक्षु ने लिखतों (मर्यादा पत्रों) में साधु-साध्वी दोनों के लिए समान रूप से अनुशासन के सूत्र दिए। उस समय साधुओं की अपेक्षा साध्वियों की समस्या अधिक जटिल थी। इसलिए साध्वियों के लिए पृथक् रूप से अनुशासन सूत्र दिए।

यद्यपि साधारण अनुशासन सूत्रों तथा साध्वियों के लिए विशेषीकृत अनुशासन सूत्रों में पर्याप्त समानता है फिर भी पुनर्लेख आवश्यक है।

साध्वियों के लिए जो मर्यादा सूत्र दिए, उनका उद्देश्य सं. १८५२ के लिखत के प्रारंभ में स्पष्ट है–

'सर्व साधवियां रे मर्यादा बांधी छै, आचार तो चोखो पालणो नैं मांहोमां गाढो हेत राखणो। तिण ऊपर मर्यादा बांधी।'[1]

सभी साध्वियों के लिए मर्यादा का निर्माण किया है। आचार का पालन अच्छा हो-और परस्पर गहरा सौहार्द रहे इसलिए मर्यादा का निर्माण किया है।

११ जनवरी
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४७, सं. १८५२ के लिखत का अंश।

अनुशासन सूत्र (६)

सं. १८५२ का प्रथम अनुशासन सूत्र सं. १८५० के प्रथम अनुशासन सूत्र के समान है। इतना अंतर है कि सं. १८५० के अनुशासन सूत्र साधुओं के लिए है और सं. १८५२ का अनुशासन सूत्र साध्वियों के लिए है।

'टोला रा साध-साधवियां में साधपणों सरधो, आप मांहै साधपणों सरधो तिका टोला मांहै रहिजो। कोइ कपट दगा सूं साधवियां भेली रहै तिण नै अनंता सिद्धां री आंण छै। पांच पदां री आंण छै। साधवी नाम धराय नै असाधवियां भेली रह्यां अनंत संसार बधै छै। जिण रा चोखा परिणाम हुवै ते इतरी प्रतीत उपजाओ।'[1]

गण के साधु-साध्वियों में साधुपन माने, अपने आप में साधुपन माने, वह गण में रहे। प्रवंचनापूर्वक साध्वियों के साथ रहे तो उसे अनंत सिद्धों की 'आण' है, पांचों पदों की 'आण' है। साध्वी बनकर यदि असाध्वियों के साथ रहे तो अनंत संसार की वृद्धि होती है। जिसका परिणाम अच्छा हो वह इतनी प्रतीति उपजाए।

१२ जनवरी
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४७, सं. १८५२ के लिखत का अंश।

अनुशासन का मूल्य

सुविनीत मुनि की जीवन शैली अनुशासन प्रधान होती है। जो अनुशासन को जीता है वह सबको प्रिय लगता है। वह चाहे आचार्य के पास रहे और उसे चाहे किसी सिंघाड़े में भेजा जाए, उसे सब अपने पास रखना चाहते हैं।

सुविनीत टोळा में रह्यां, ते तो सगळां नै गमतो होय।
ओर साधां साथे मेळयां थकां, तिण नै पाछो न ठेले कोय।।
आतमा दम इंद्र्यां वस करै, उपजावे साधां नै परतीत।
बलै लोक बतावे आंगुली, एहवो न करै काम विनीत।।[1]

सुविनीत शिष्य गण में रहता है तो सबको प्रिय लगता है। दूसरे साधुओं के साथ भेजने पर उसे कोई भी वापस भेजना नहीं चाहता।

विनीत साधु आत्मा का दमन कर इन्द्रियों को वश में करता है। साधुओं में प्रतीति उत्पन्न करता है। लोग अंगुली उठाए, वह ऐसा कोई काम नहीं कर सकता।

१३ जनवरी
२००४

१. विनीत अविनीत री चोपई, ढाल ८, गा. २४,२५

अनुशासन का दृष्टिकोण

आचरण पीछे, पहले है दृष्टिकोण का निर्माण। जयाचार्य ने सहिष्णुता के व्यवहार का संबोध दिया। उससे पूर्व सहिष्णुता-विषयक दृष्टिकोण के निर्माण के सूत्र दिए।

जो साधु-साध्वी आचार्य के द्वारा दी जाने वाली कड़ी सीख को भी अमृत तुल्य मानता है, उसी में सहिष्णुता के बीज अंकुरित होते हैं।

कठिन वचन गुरु सीख दै, ते तौ अमरित सूं अधिकाया।
भाग्य दिसा भारी हुवै, जब सतगुरु सीख सवाया॥[1]

गुरु कठोर वचन से अनुशासन करते हैं, वह अमृत से भी अधिक मधुर होता है। जब प्रबल भाग्योदय होता है, तभी सद्गुरु अनुशासन करते हैं।

१४ जनवरी
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ६९, शिक्षा री चोपी, ढाल १/४३

अनुशासन का प्रयोग (१)

तेरापंथ के आचार्य समय-समय पर अनुशासन की कसौटी करते रहे हैं।

आचार्य भिक्षु और जयाचार्य ने अनुशासन के बारे में पर्याप्त चिंतन किया। अन्य आचार्यों ने भी उसको व्यावहारिक बनाने का प्रयत्न किया। इस विषय में मुनि मोजीरामजी का प्रसंग उल्लेखनीय है।

तीन ठाणै मोजीरामजी, विण मुरजी लावा में रहिवाया।
राजनगर आया पूज आगलै, सुण स्वाम संता नै बोलाया॥
कोई वंनणा कीज्यो मती, हिवै मोजीरामजी आया।
देखै सहु साध-साध्वी, पिण किण नवि सीस नमाया॥
पछै आय पूज पगां लागिया, भारीमाल हुकम फुरमाया।
जद वंनणा कीधी साध-साधव्यां, निषेदी तसु दंड दिराया॥[1]

वि. सं. १८७७ की घटना है। मुनि मौजीरामजी लावा सरदारगढ़ में कुछ दिन ठहरे। आचार्यश्री भारीमालजी नहीं चाहते थे कि वे वहां रहें। पर उन्हें इस बात का पता नहीं था। वे वहां से विहार कर राजनगर में आचार्यवर के पास पहुंचे। आचार्यवर ने संतों को बुलाकर कहा—

'मौजीरामजी आ रहे हैं, उन्हें कोई वंदना मत करना।' साधु-

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ६९, शिक्षा री चोपी, ढाल १/४४-४६

साध्वियां उन्हें देखते रहे, पर किसी ने सिर नहीं झुकाया।

उन्होंने आचार्यवर से कहा—'गुरुदेव! मैं जानना चाहता हूं मेरा क्या प्रमाद हुआ?' आचार्यवर ने कहा—'तूं लावा सरदारगढ़ में कैसे रहा?' उन्होंने कहा—'मुझे आपकी भावना का पता होता तो मैं नहीं रहता। मेरा जो प्रमाद हुआ है, उसे क्षमा करें।' इस पर आचार्यवर ने उनके सिर पर हाथ रखा, साधु-साध्वियों को वंदना करने का निर्देश दिया। मुनि मौजीरामजी को प्रायश्चित्त देकर निर्मल बना दिया।

१५ जनवरी
२००४

अनुशासन का प्रयोग (२)

आचार्य भिक्षु ने केवल अनुशासन का विधान ही नहीं किया, उसके प्रयोग भी किए। एक बार आचार्य भिक्षु ने वेणीरामजी स्वामी को आमंत्रित किया और वे आए नहीं। वैसे यह साधारण घटना लगती है किंतु अनुशासन की दृष्टि से बहुत बड़ी घटना है। आचार्य भिक्षु ने इस पर एक कठोर निर्णय लिया, वह सूक्ष्म दृष्टि से मननीय है।

भिक्षु स्वाम पीपाड़ में, वैणीरामजी नै गोलाया।
दोय तीन बार हेलौ पाड़ियौ, पिण बोल्या नही ऋषिराया॥
लूणावत गुमानजी तेह्नैं, इम स्वाम भिक्षू बोल्या वाया।
'वैणों छूटतो दीसै' अछै, जब गुमानजी त्यां पासै आया॥
कही स्वाम भिक्षु नीं बारता, सुण त्रास अधिक दिल पाया।
आय पगां पड्या स्वाम नै, अै तौ सुविनीत महामुनिराया॥
स्वाम कहै हेलो पाड्यिो, तूं बोल्यो नहीं किण न्याया।
वैणीरामजी कहै सुणियौ नहीं, घणों विनय करी नै रीझाया॥[१]

वि. सं. १८४५ की घटना है। आचार्यश्री भिक्षु पीपाड़ (जिला जोधपुर) में विराज रहे थे। उन्होंने मुनि वेणीरामजी को संबोधित किया। दो-तीन बार संबोधित करने पर भी वे कुछ नहीं बोले।

आचार्य भिक्षु ने गुमानजी लूणावत से कहा—'लगता है,

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ६८, शिक्षा री चोपी, ढाल १/२९-३२

वेणो संघ में नहीं रह पाएगा।' यह सुन गुमानजी मुनि वेणीरामजी के पास पहुंचे।

आचार्य भिक्षु के वचन उन्हें बताये। उन वचनों को सुन कर उनका मन त्रास से भर गया। वे आचार्य भिक्षु के चरणों में लुट गए। वे महान् विनीत थे।

आचार्य भिक्षु ने कहा—'मैंने तुम्हें संबोधित किया, तुम क्यों नहीं बोले?' मुनि वेणीरामजी बोले—'गुरुदेव! मैंने सुना ही नहीं। यह कैसे हो सकता है कि आप संबोधित करें और मैं नहीं बोलूं?' उन्होंने विनम्रता के द्वारा आचार्य भिक्षु को प्रसन्न कर लिया।

१६ जनवरी
२००४

अनुशासन का मूल्यांकन

कुछ मुनि अभिमानवश आचार्य से यह प्रार्थना करते—आप हमें परिषद में उलाहना न दें।

जयाचार्य ने इस प्रकार का व्यवहार करने वाले मुनि के लिए निर्देश दिया कि जो मुनि परिषद में दी जाने वाली सीख को सहन नहीं करता, उसका सम्मान नहीं बढ़ाना चाहिए।

मोद पिंडतपणां नों आण नैं, अभिमानी कहै इम वाया।
परिषद मांहै मोनैं मत कहौ, छानै सीख देवौ मुनिराया।।
इम अभिमानी नै चोड़ै कह्यां, दुर्लभ रहिवौ सम अध्यवसाया।
कुरब बधै त्यांरो किण विधे, मान मेट्यां सूं कुरब बधाया।।[1]

पंडित होने का मोद (हर्ष) मनाने वाला अभिमानी इस प्रकार कहता है—मुझे परिषद में मत कहो, जो सीख देनी है वह एकांत में दो।

अभिमानी को परिषद में कहने पर उसका अध्यवसाय सम रह सके, कठिन है। उनका सम्मान कैसे बढ़ सकता है? सम्मान उनका बढ़ता है जो अभिमान को त्याग देते हैं।

१७ जनवरी
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ६९, शिक्षा री चोपी, ढाल १.४८,४९

अनुशासन : सकारात्मक दृष्टिकोण (१)

जयाचार्य ने अनुशासन के प्रति एक सकारात्मक दृष्टिकोण पैदा करने का प्रयत्न किया। उसमें वे बहुत सफल हुए। उन्होंने यह प्रशिक्षण दिया कि गुरु एकांत में या समूह में उलाहना अथवा सीख दे उस समय शिष्य का दृष्टिकोण कैसा होना चाहिए।

इस विषय में उनकी वाणी बहुत मननीय है।

गुरु कठण वचन निषेधियां, सुवनीत चिंते मन माया।
आज अनुग्रह गुरु तणों, मुज ऊपर छै अधिकाया॥
शीतल कठण वचने करी, गुरु सीख देवै सुखदाया।
परम लाभ अति लेखवै, सुविनीत तिको मुनिराया॥
आज कृतारथ हूं थयो, मोनैं, निषेध्यो परिषद मांझा।
आज भलो भाण ऊगीयो, मोनैं अमरित प्याला पाया।
आज म्हारी जागी दिसा, रत्न चिंतामणी पाया।
वृष्टि अमोलक रत्न री, वारू परिषद में वरसाया॥[१]

गुरु के द्वारा कठिंन वचन कहने पर सुविनीत शिष्य चिंतन करता है—आज गुरुदेव ने मेरे पर बहुत अधिक अनुग्रह किया है।

मुझे मृदु अथवा कठोर वचनों से सीख दी है। इसमें मुझे परम लाभ दिखाई दे रहा है। जो ऐसा चिंतन करता है वह सुविनीत है।

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ६९,७०, शिक्षा री चोपी, ढाल १.५२,५३,५६,५७

आज कृतार्थ हो गया हूं। मुझे परिषद में उपालम्भ दिया है। आज मेरे लिए स्वर्णिम सूर्य उदित हुआ है। मुझे अमृत का प्याला पिलाया है।

आज मेरी भाग्य दशा जागी है। आज मुझे चिंतामणि रत्न मिला है। मेरे पर अमूल्य रत्नों की बरसात हुई है और वह भी परिषद के मध्य।

१८ जनवरी
२००४

अनुशासन : सकारात्मक दृष्टिकोण (२)

अनुशासन और व्यवस्था के क्षेत्र में बहुत बड़ी बाधा है नकारात्मक चिंतन और नकारात्मक दृष्टिकोण।

जयाचार्य ने सकारात्मक दृष्टिकोण का जागरूकता के साथ प्रशिक्षण दिया। वह अनुशासन का सर्वोत्तम वैभव है।

कटुक वचन गुरु सीख दिये पिण, कलुष भाव नहि ल्यावै।
उलट धरी कर जोड़ आदरै, विमन चित्त नवि थावै॥
परिषद मांहि निषेधै तो पिण, क्रोधे ना कंपावै।
समचित चिंते मुझ ने सद्गुरु, अमरित प्याला पावै॥[1]

गुरु के द्वारा कड़े शब्दों से उपालम्भ देने पर भी जो कलुष भाव नहीं लाता, किंतु हाथ जोड़कर उसको स्वीकार करता है, वह विमनस्क (उद्विग्न) चित्त वाला नहीं होता।

परिषद में उपालम्भ देने पर भी क्रोध से कंपित नहीं होता। समतापूर्ण चित्त से चिंतन करता है कि गुरु मुझे अमृत का प्याला पिला रहे हैं।

१९ जनवरी
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ८३, शिक्षा री चोपी, ढाल ५/२-३

अनुशासन : सकारात्मक दृष्टिकोण (३)

अनुशासन करने वाले अनुशास्ता को दो बड़ी समस्याओं का सामना करना पड़ता है–

१. स्वार्थ

२. अहंकार

सकारात्मक दृष्टिकोण का निर्माण होने पर ये दोनों समस्याएं अपने आप सुलझ जाती हैं।

स्वारथ विण पूगां पिण सुगुणो, लै'र वैर नहि ल्यावै।
अरज न मान्यां अंस मात्र पिण, अथिरपणै नहि आवै।।[१]

स्वार्थ सिद्ध न होने पर भी गुण सम्पन्न मुनि के मन में न विरोध की तरंगे उठती हैं और न वैर का भाव। आचार्य द्वारा प्रार्थना न स्वीकार करने पर अंश मात्र भी उसमें अस्थिरता का भाव नहीं आता।

२० जनवरी
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ८३, शिक्षा री चोपी, ढाल ५/४

अनुशासन का आधार (१)

अनुशासन और सहिष्णुता दोनों में एकात्मक संबंध है। जिस संगठन में सहिष्णुता का विकास नहीं होता, उसमें अनुशासन का विकास नहीं होता। इस सचाई को ध्यान में रखकर जयाचार्य ने लिखा कि सब साधु-साध्वियों को सहन करना चाहिए और अग्रणी को और अधिक सहन करना चाहिए।

रीत ए सहू श्रमण-श्रमणी तणीं, अगवाण नै तौ अधिकाया।
सूत्र वखाण सीखै सही, तिम खमवौ सीख्या सुख पाया॥[१]

सभी साधु और साध्वियों को सहन करना चाहिए, यह रीति है। अग्रणी को और अधिक सहन करना चाहिए। वह सूत्र और व्याख्यान सीखता है वैसे ही वह सहन करना सीखें। जो सहन करना सीखता है वह अधिक सुख प्राप्त करता है।

२१ जनवरी
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ६८, शिक्षा री चोपी, ढाल १/२५

अनुशासन का आधार (२)

जयाचार्य ने अग्रणी की अर्हता और कसौटी का प्रलंब विवेचन किया है। उसके अनुसार उसी साधु-साध्वी को अग्रणी नियुक्त किया जाए, जिसमें सहन करने की विशिष्ट क्षमता हो। क्वचित् प्रमाद या भूल होने पर आचार्य एकांत में उलाहना दें अथवा परिषद के बीच में दें तो उसे समभाव से सहन कर सके।

खामी पड्यां बहु जन मझै, गुरु चौड़े निषेधे सुन्याया।
अवनीत मुंह बिगाड़ दै, सुविनीत रै हरष अथाया॥
चौड़े मोनै निषेधौ मती, कदा गुरु नहीं मानै वाया।
तिण सूं चोट खमणी पहिलां धार नै, अगवाण विचरै मुनिराया॥
हूंस राखै सिंघाड़ा तणीं, चोड़ै निषेध्यां मुख कुमलाया।
तास कुरब न बधावणौ, खमियां तौल बधै अधिकाया॥[1]

अग्रणी में कोई खामी हो तो आचार्य उसे परिषद में उपालंभ देते हैं। उपालंभ सुनकर जो अविनीत होता है वह मुंह बिगाड़ता है और जो सुविनीत होता है वह अत्यंत हर्ष का अनुभव करता है।

अविनीत शिष्य कहता है—परिषद में हमें उपालंभ मत दो। कदाचित् गुरु उसकी बात को नहीं भी स्वीकार करें। इसलिए पहले चोट को सहन करना सीखो। फिर अग्रणी के रूप में विहार करो। यह पहले सोच लो।

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ६६, शिक्षा री चोपी, ढाल १/२०-२२,२४

अग्रणी बनने की आकांक्षा रखता है और उपालम्भ देने पर मुख कुम्हला जाता है उसका सम्मान नहीं बढ़ाना चाहिए। सहन करने पर ही अधिक तोल-मोल बढ़ता है।

२२ जनवरी
२००४

अनुशासन और चिंतन की स्वतंत्रता

आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ के प्रवर्तन के सौलह वर्ष बाद सं. १८३२ में पहला लिखत लिखा। अंतिम लिखत सं. १८५९ में लिखा। दोनों लिखतों में कुछ भेद के उपरांत भी समस्वरता है। उन्होंने एक नेतृत्व के साथ चिंतन की स्वतंत्रता को महत्त्वपूर्ण अवकाश दिया।

प्रथम लिखत अनुशासन का पहला आधार है इसलिए उसकी पृष्ठभूमि पर विमर्श आवश्यक है।

'ऋष भीखण सर्व साधा नै पूछ नै सर्व साध साधवियां री मरजादा बांधी। ते साधा नैं पूछ नैं साधां कनां थी कहवाय नैं, ते लिखीये छै–

ए सर्व साधां रा परिणाम जोय नै रजाबंध कर नै, यां कनां सूं पिण जुदो-जुदो कहवाड़ नै मरजादा बांधी छै। जिण रा परिणाम मांहिला चोखा हुवै ते मतो घालज्यो, कोइ सरमासरमी रो काम छै नहीं। मूंढै और नें मन में और, इम तो साधु नै करवो छै नहीं, इण लिखत में खूंचणो काढणो नहीं। पछै कोइ और रो और बोलणो नहीं, अनंता सिद्धां री साख सूं पचखाण छै।'[1]

मैं ऋषि भीखण सब साधुओं को पूछकर सर्व साधु-साध्वियों के लिए मर्यादा का निर्माण कर रहा हूं। सर्व साधुओं को पूछकर

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४३७, सं. १८३२ के लिखत का अंश।

और उनसे अनुमोदन करवाकर जो निर्माण किया वह लिख रहा हूं–

सभी साधुओं के भावों को देखकर, उनको सहमत कर तथा अलग-अलग कहला कर मर्यादा का निर्माण किया है। जिनका भीतर का भाव साफ और शुद्ध हो, वे अपनी स्वीकृति दें, इसमें कोई संकोच का कार्य नहीं है। बोलने में कुछ और, मन में कुछ और–ऐसा साधु को करना नहीं है।

फिर इस लिखत में कमी न बतलाएं। चालू बात न करें। ऐसा करने का अनंत सिद्धों की साक्षी से प्रत्याख्यान है।

२३ जनवरी
२००४

अनुशासन के बाधक तत्त्व

स्वच्छन्दता और रसनेन्द्रिय की आसक्ति—ये दोनों अनुशासन के बाधक तत्त्व हैं। आहार लोलुप व्यक्ति उन क्षेत्रों का चुनाव करता है जहां स्वादिष्ट भोजन मिले। वह दो की संख्या में ही रहना चाहता है। उसके पीछे भी आहार-लोलुपता की ही भावना रहती है। आचार्य भिक्षु के शब्दों में इस अवस्था का चित्रण इस प्रकार है—

'दोय जणां तो विचरे, नैं आछा आछा मोटा मोटा साताकारियां क्षेत्र लोलपी थका जोवता फिरै, गुर राखै तठै न रहै, इम करणो नहीं छै। घणां भेलो रहितो दुखी, दोय जणां में सुखी, लोलपी थको यूं करणो नहीं छै।'[1]

दो साधु लोलुपी होकर अच्छे-अच्छे बड़े-बड़े सुविधा वाले क्षेत्रों की खोज करते हैं। गुरु जहां रखते हैं वहां नहीं रहते। ऐसा उन्हें नहीं करना है। बहुतों के साथ रहने पर दुःखी बन जाए और दो व्यक्तियों के साथ रहने में सुखी बन जाए। लोलुपता के कारण ऐसा नहीं करना है।

२४ जनवरी
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४५, सं. १८५० के लिखत का अंश।

मौलिक मर्यादा (१)

आचार्य भिक्षु की मौलिक मर्यादाओं में एक मर्यादा है—

'सब साधु-साध्वियां एक आचार्य की आज्ञा में रहें।'

यह मर्यादा परिपार्श्व में विद्यमान साधु-संस्था की अवस्था को देखकर निर्मित की। स्वच्छन्दता का वातावरण पनप रहा था। आचार्य की आज्ञा की अवमानना की जा रही थी। उस स्थिति में एक आचार्य के नेतृत्व पर बल देना आवश्यक हो गया। इस आवश्यकता को ध्यान में रखकर सं. १८३२ के लिखत में आचार्य भिक्षु ने लिखा—

'सर्व साध साधवी भारमलजी री आज्ञा मांहे चालणो।

विहार चोमासो करणो ते भारमलजी री आगना सूं करणो। विना आग्न्या कठे इ रहिणो नहीं।

दिख्या देणी ते भारमलजी रा नाम दिख्या देणी।'[1]

सभी साधु-साध्वियां भारमलजी की आज्ञा में रहें।

विहार, चातुर्मास करें तो भारमलजी की आज्ञा से करें। आज्ञा के बिना किसी स्थान पर रहना नहीं है।

दीक्षा दें वह भारमलजी के नाम से दें।

२५ जनवरी
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४३६, सं. १८३२ के लिखत का अंश।

मौलिक मर्यादा (२)

आचार्य भिक्षु की मौलिक मर्यादाओं में एक मर्यादा है–

'सब साधु-साध्वियां आचार्य के शिष्य होंगे।'

इस मर्यादा का निर्माण जिस परिस्थिति के अध्ययन के बाद किया गया, उसका वर्णन आचार्य भिक्षु के शब्दों में इस प्रकार है–

'दिख्या देणी ते पिण भारमलजी रे नामे देणी।

दिख्या दे ने आण सूंपणो।

'सिष करणा ते सर्व भारमलजी रे करणा। औरां रे चेला करण रा त्याग छै, जावजीव लगै।'[1]

दीक्षा दें तो भारमलजी के नाम दें।

दीक्षा देकर उसे लाकर उनको सौंप दें।

शिष्य करें वे भारीमलजी के नाम करें, दूसरे साधु-साध्वियों के शिष्य करने का यावज्जीवन त्याग है।

२६ जनवरी
२००४

१. ते. म. व्यवस्था., पृ. ४५१, सं. १८५९ के लिखत का अंश।

मौलिक मर्यादा (३)

आचार्य भिक्षु की मौलिक मर्यादाओं में एक मर्यादा है—'आचार्य योग्य व्यक्ति को दीक्षित करे। दीक्षित करने पर भी कोई अयोग्य निकले तो उसे गण से अलग कर दे'।

आचार्य भिक्षु ने दीक्षित होने वाले व्यक्ति की अर्हता पर बहुत विचार किया। आचार्य स्वयं योग्यता की परीक्षा करें और इस विषय में बहुश्रुत साधुओं के परामर्श का भी सम्मान करें। इस विषय में आचार्य भिक्षु का निर्देश बहुत मननीय है।

'भारमलजी पिण चेलो करै ते पिण बुधवंत साध कहै—ओ साधपणा लायक छै, बीजा साधां नै परतीत आवै तेहवो करणो, परतीत नहीं आवै तो नहीं करणो। कीधा पछै कोई अजोग हुवै तो पिण बुधवंत साधां रा कह्या सूं छोड़ देणो। किण ही धेषी रा कह्या सूं छोड़णो नहीं।'[१]

भारमलजी भी शिष्य करे तो बद्धिमान साधु कहे—यह साधुत्व के योग्य है, दूसरे साधुओं को प्रतीति हो वैसा करे, प्रतीति नहीं हो तो न करे।

शिष्य बनाने के बाद कोई अयोग्य हो तो बुद्धिमान साधुओं के कहने से उसे संघ से पृथक् कर दे। किसी द्वेषी के कहने से वैसा न करे।

२७ जनवरी
२००४

१. ते. म. व्यवस्था., पृ. ४५१, सं. १८५९ के लिखत का अंश।

मौलिक मर्यादा (४)

आचार्य भिक्षु की मौलिक मर्यादाओं में एक मर्यादा है–

'विहार, चातुर्मास, शेषकाल प्रवास आदि आचार्य की आज्ञा से करें।'

इस मर्यादा का आधार भी एक विशेष परिस्थिति का अध्ययन है। आचार्य भिक्षु ने अनुभव किया कि साधु-साध्वियां बड़े शहरों में अधिक रहते हैं। छोटे गांवों में उनका अनुभव उनके शब्दों में वर्णित है–

'लूखे खेतर तो उपगार हुवै ते छोड़ नै न रहै, आछै खेतर उपगार न हुवै तो ही पर रहै। ते यूं करणो नहीं।

चौमासो तो अवसर देखै तो रहिणो, पिण सेषे काल तो रहिणो। किण री खावा पीवादिक री संका पड़ै तो उणनै साध कहै, बड़ा कहै ज्यूं करणो।'[१]

छोटे क्षेत्र में उपकार हो तो भी न रहे और बड़े क्षेत्र में उपकार न हो तो भी वहां जम जाते हैं। इस प्रकार करना नहीं।

चतुर्मास अवसर हो तो करना, किंतु शेषकाल में अवश्य रहना। किसी की खाने-पीने के विषय में शंका पैदा हो तो गुरु कहे और बड़े साधु कहे वैसा करना।

२८ जनवरी
२००४

१. ते. म. व्यवस्था., पृ. ५, सं. १८५० के लिखत का अंश।

मौलिक मर्यादा (५)

आचार्य भिक्षु की मौलिक मर्यादाओं में एक मर्यादा है—

"आचार्य अपने गुरु भाई या शिष्य को अपना उत्तराधिकारी चुने, उसे सब साधु साध्वियां सहर्ष स्वीकार करें।"

उत्तराधिकार का प्रश्न बहुत संवेदनशील प्रश्न है। संगठन के सामने यह सबसे बड़ी समस्या है। आचार्य भिक्षु ने इस समस्या को गुरु को चयन का अधिकार देकर सुलझाया। इस चयन को दूसरे के हस्तक्षेप से सर्वथा मुक्त कर दिया। सं. १८५९ के लिखत में आचार्य भिक्षु का निर्देश है—

'भारमलजी री इच्छा आवै जद गुर भाई अथवा चेला नै टोला रो भार सूंपे जद सर्व साध साधव्यां नै उणरी आगन्यां मांहै चालणो, एहवी रीत परंपरा बांधी छै।

सर्व साध-साधवी एकण री आगन्यां मांहै चालणो। एहवी रीत बांधी छै साध-साधव्यां रो मार्ग चालै जठा तांइ।'[1]

भारमलजी की इच्छा हो तब गुरु भाई अथवा शिष्य को गण का भार सौंपे तो सब साधु-साध्वियां उनकी आज्ञा में चलें। ऐसी रीत और परम्परा का निर्माण किया है।

सभी साधु-साध्वियां एक की आज्ञा में चलें। साधु-साध्वियों का मार्ग चलें तब तक ऐसी रीत का निर्माण किया है।

२९ जनवरी
२००४

१. ते. म. व्यवस्था., पृ. ४५२, सं. १८५९ के लिखत का अंश।

मर्यादाकरण के उद्देश्य

आचार्य भिक्षु ने मर्यादाकरण के जो उद्देश्य बतलाए हैं, वे वर्तमान परिस्थिति से उपजने वाली समस्याओं की ओर संकेत करते हैं। उनमें छिपा है उनका निराकरण।

'चेला री कपड़ा री साताकारिया खेतर री आदि देइ नै ममता कर कर नै अनंता जीव चरित्र गमाय नै नरक निगोद मांहै गया छै। तिण सूं शिषादिक री ममता मिटावण रो नै चारित्र चोखो पालण रो उपाय कीधो छै।'

'विनयमूल धर्म नै न्याय मार्ग चालण रो उपाय कीधो छै।'

'भेखधारी विकला नैं मूंड भेला करै, ते शिषां रा भूखा एक-एक रा अवर्णवाद बोले, फारा तोड़ो करै, कजिया राड़ करै, एहवा चरित देख नै साधां रे मर्यादा बांधी।

शिष साखा रो संतोष कराय नै सुखे संजम पालण रो उपाय कीधो।'[1]

शिष्य, कपड़ा, साताकारी क्षेत्र आदि पर ममत्व करके अनंत जीव नरक निगोद में गए हैं। इसलिए शिष्य आदि की ममता मिटाने के लिए तथा चारित्र की विशुद्ध पालना के लिए उपाय किया है।

विनय मूल धर्म और न्याय मार्ग पर चलने का उपाय किया है।

---

१. ते. म. व्यवस्था., पृ. ४३६, सं. १८३२ के लिखत का अंश।

वेषधारी विकलों को मूंड कर इकट्ठा करते हैं। वे शिष्यों के भूखे एक-एक का अवर्णवाद बोलते हैं, मन भेद करते हैं, कलह, लड़ाई करते हैं। ऐसा चरित्र देखकर साधुओं के लिए मर्यादा का निर्माण किया है।

शिष्य परम्परा का संतोष कराकर सुखपूर्वक संयम पालने का उपाय किया है।

३० जनवरी
२००४

मर्यादा के समान स्वर

प्रथम लिखत वि. सं. १८३२ का है और अंतिम लिखत वि. सं. १८५९ का। इन दोनों में कोई मौलिक अंतर नहीं है। अंतिम लिखत में कुछ शब्दों और विषयों का समावेश अधिक है।

वि. सं. १८३२ के लिखत में **'साधा पिण इमहिज कह्यो'** के स्थान पर **'साध साधवियां पिण इमहिज कह्यो'** मिलता है।

'नव पदार्थ ओलखाय नै दिख्या देणी' इसका उल्लेख दोनों में समान है।

'आचार पालां छा तिण रीते चोखो पालणो' वि. सं. १८५९ के लिखत में इसका विकसित रूप मिलता है।

'आचार पालां छा तिण रीते चोखो पालणो। इण आचार मांहै खामी जाणो तो अबारूं कहि देणो। पछै मांहो मां ताण करणी नहीं। किण ही नै दोष भास जाय तो बुधवंत साध री परतीत कर लेणी, पिण खांच करणी नहीं।'[1]

आचार पालते हैं तो उस रीति से विशुद्ध आचार का पालन करो। इस आचार में यदि कोई खामी देखो तो अभी कह दो। बाद में परस्पर खींचातान करनी नहीं।

किसी साधु में दोष दिखाई दे तो बुद्धिमान साधु की प्रतीति करें किन्तु परस्पर खींचातान नहीं करनी।

३१ जनवरी
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था., पृ. ४५२, सं. १८३२,१८५९ के लिखत का अंश।

मर्यादा का अनुमोदन

आचार्य भिक्षु को योग्य साथी अथवा सहयोगी शिष्य मिले। उनका सहयोग मर्यादाकरण में बहुत महत्त्वपूर्ण रहा। उनके हार्दिक समर्थन से मर्यादाकरण का पथ प्रशस्त हुआ।

साधां पिण इमहिज कह्यो–

१. भारमल जी री आज्ञा में चालणो।

२. शिष्य करणा ते भारमल जी रे करणा।

३. भारमल जी घणां रजाबंध होय नै और साध नै चेलो सूंपै तो करणो, बीजूं करण रो अटकाव कीधो छै।[1]

साधुओं ने भी ऐसा ही कहा–

१. भारमलजी की आज्ञा में चलें।

२. शिष्य करें तो भारमलजी के नाम करें।

३. भारमलजी प्रसन्न मन होकर किसी साधु को शिष्य सौंप दें तो वह दीक्षा देकर अपने पास रखे अन्यथा दीक्षा देकर अपने पास न रखें। यह प्रतिषेध किया है।

१ फरवरी
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था., पृ. ४३६, सं. १८३२ के लिखत का अंश।

मर्यादा प्रबन्धन का अधिकार

आचार्य भिक्षु ने वर्तमान की समस्या का समाधान करने के लिए मर्यादाओं का प्रबन्ध किया। भविष्य में नई समस्याएं पैदा हो सकती हैं और नई मर्यादाओं के प्रबन्धन की अपेक्षा हो सकती है। इस स्थिति को ध्यान में रखकर आचार्य भिक्षु ने विधान किया।

बलै कोई याद आवै ते पिण लिखणो ते पिण सर्व कबूल कर लेणो। सं. १८३२ का लिखत[1]

आचार री संका पड्यां थी बांधा बलै कोई याद आवै ते लिखां, ते पिण सर्व कबूल छै। सं १८५० का लिखत[2]

बलै कोई याद आवे ते पिण लिखणो, बलै करली-करली मर्यादा बांधै त्यां में पिण अनंता सिद्धां री साख कर नै नां कहिण रा त्याग छै। सं.१८५२ का लिखत[3]

बलै कोई याद आवै ते लिखणो, तिण रा पिण ना कहिण रा त्याग छै। सर्व कबूल छै। सं. १८५९ का लिखत[4]

पुनः कोई बात याद आए तो उसे भी लिखा जाए और उसे भी सब स्वीकार करें।

आचार की शंका होने पर पुनः कोई याद आए तो लिखें और

१. ते. म. व्यवस्था, पृ ४३७

२. वही, पृ ४४६, ३. वही, पृ ४४९, ४. वही, पृ ४५३

सब स्वीकार भी करें।

पुनः कोई बात याद आए तो उसे भी लिखा जाए, और कड़ी-कड़ी मर्यादा बनाएं तो उनके लिए भी अनंत सिद्धों की साक्षी से मना करने का त्याग है।

पुनः कोई बात याद आए तो उसे भी लिखा जाए, उसका भी मना करने का त्याग है। यह सब स्वीकार करें।

२ फरवरी
२००४

मर्यादा-निष्ठा

मुनि अकिञ्चन होता है, असंग्रही होता है। वह उतना ही वस्त्र रख सकता है जितना मर्यादा-विहित होता है।

यदि कोई साधु-साध्वी मर्यादा से अधिक वस्त्र आदि उपकरण रखे और उसका माप न करे तो उसे समझदार नहीं कहा जा सकता।

बलि मर्यादा कल्प लोप नैं, अधिक उपधि अभिलाखै।
तीर्थंकर नों चोर कहीजे सुगुरु-अदत जिन दाखै॥
खंड वस्त्र नां वटका ते पिण, कल्प मांहि गिण लेणा।
मापै नाहीं, मपावै नांहि, (त्यांनै) किणविध कहियै सैणा॥[1]

मर्यादा और कल्प (वस्त्र, पात्र आदि रखने की सीमा) का लोप कर जो अधिक उपधि की अभिलाषा करता है वह तीर्थंकर का चोर कहलाता है और वह गुरु की भी चोरी है। ऐसा जिन भगवान ने कहा है।

वस्त्र का एक खंड और छोटा कपड़ा भी कल्प में गिनो। जो स्वयं उसका माप नहीं करता और दूसरों से माप नहीं करवाता, उसे कैसे सयाना कहा जाए?

३ फरवरी
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था., पृ. ८५, शिक्षा री चोपी ६/३,४

संगठन और श्रावक (१)

कुछ साधु अविनीत होते हैं। वैसे ही कुछ श्रावक भी अविनीत होते हैं।

विनीत श्रावक संगठन को मजबूत बनाते हैं और अविनीत श्रावक संगठन को कमजोर बनाते हैं।

कोई अविनीत साधु संघ से पृथक् होता है। वह श्रावकों को अपने पक्ष में करना चाहता है। उस समय विनीत अथवा अविनीत श्रावक का जो व्यवहार होता है उसका आचार्य भिक्षु ने सुंदर मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है।

ओगुण सुण-सुण ने समदिष्टी, यां ने जाणे धर्म सूं भिष्टी।
यां रा बोल्यां री परतीत नाणे, झूठ में झूठ बोलतो जांणे॥
सगळा श्रावक सारीखा नांहि, अकल जुदी जुदी घट मांहि।
समदिष्टी री साची हुवे दिष्ट,ते यां ने करे थोड़ा मांहे खिष्ट॥
यां ने न्याय सूं देवे जाब, पाड़े घणा लोकां मांहे आब।
यां री मूल न आणे संक, यां ने देखाल दे यांरो बंक॥[1]

सम्यक्‌दृष्टि श्रावक गण से पृथक् साधुओं द्वारा कथित अवगुणों को सुन-सुन कर उनको धर्म से भ्रष्ट मानता है। उनके कथन पर प्रतीति नहीं करता। वह समझता है कि ये एक झूठ के बाद दूसरा झूठ बोलते जाते हैं।

---

१. अवनीत दास ढाल १, गा. ३६०,३६१,३६२

सारे श्रावक एक जैसे नहीं होते। सबकी अलग-अलग बुद्धि होती है। सम्यक्दृष्टि की दृष्टि सही होती है। वह उन्हें थोड़े में ही निरुत्तर कर देता है।

उन्हें न्यायपूर्वक जवाब देता है। बहुत लोगों के मध्य उनकी आब को कम करता है। वह उनसे बिल्कुल भी आशंकित नहीं होता। उन्हें उनकी कुटिलता का अनुभव करा देता है।

४ फरवरी
२००३

संगठन और श्रावक (२)

कोई साधु किसी श्रावक को कहता है—पहले मैं अकेला था इसलिए दोष बताते हुए डरता था। अब हम दो हो गए हैं इसलिए दोष बताने में डर नहीं है। यह बात सुनकर विनीत श्रावक कहता है—तुम साधु बन गए, फिर भी डरते रहे, यह अच्छा नहीं किया।

साधां ने डरतो मूल न रहिणो, दोष देखे सताब सूं कहिणो।
डरता न कह्या तो थे गीदड़ पूरा,हिवै किण विध होस्यो थे सूरा।।
एकला होयबा स्यूं डरते, दोष न कह्या थे लाजा मरते।
जो हिवै ढांकोला दोष अनेक, जांणे होय जावांला एक एक।।[१]

साधुओं को डरते हुए नहीं रहना चाहिए। दोष देखे तो तत्काल कह देना चाहिए। यदि तुमने डरते हुए दोष नहीं बताया तो तुम पूरे सियार हो। अब कैसे शूरवीर बनोगे?

कहीं मैं अकेला न हो जाऊं, इस डर और संकोच से तुम दोष नहीं बतलाते। अब तुम दो हो। परस्पर एक दूसरे के दोष को छिपाओगे, यह सोचकर कि हम दोनों पृथक् पृथक् न हो जाएं।

५ फरवरी
२००४

१. अवनीत रास, ढाल १, गाथा ४०२,४०३

संगठन और बौद्धिक क्षमता

संगठन के लिए आवश्यक है बौद्धिक क्षमता का विकास।

१. छोटों को अपने अभिप्रायानुसार चलाने की बौद्धिक क्षमता।

२. बड़ों के अभिप्रायानुसार चलने की बौद्धिक क्षमता।

जिसमें दोनों में से एक ही क्षमता विकसित नहीं होती, वह संगठन में संक्लेश पैदा करता है।

उण ने छोटां ने छांदे चलावण तणी, ते पिण अकल नहीं घट मांय।
बड़ा रे पिण छांदे चाल सके नहीं,तिण रा दुःख मांहि दिन जाय।।
पुस्तक पांना वसतर ने पातरा,इत्यादिक साधू रा उपधि अनेक।
गुरु और साधां ने देता देख ने, तो गुरु सूं पिण राखे मूर्ख धेख।।[1]

छोटों को अपने अभिप्राय के अनुसार चलाने की बुद्धि नहीं है, बड़ों के अभिप्राय के अनुसार वह चल नहीं सकता, उसके दिन दुःख में व्यतीत होते हैं।

पुस्तक, वस्त्र, पन्ने, पात्र आदि साधु के अनेक उपकरण हैं। गुरु दूसरे साधुओं को उन्हें देता है, यह देखकर वह अविनीत गुरु से द्वेष रखने लग जाता है।

६ फरवरी
२००४

---

१. विनीत विनीत री चौपई, ढाल १, गाथा ३२,३३

संगठन और योग्यता

आचार्य भिक्षु की दृष्टि में संघ की सुव्यवस्था के लिए योग्यता एक अनिवार्य शर्त है।

पहली बात—अयोग्य व्यक्ति को दीक्षा मत दो।

दूसरी बात—यदि कोई अयोग्य व्यक्ति संघ में आ जाए तो उसे योग्य बनाने का प्रयत्न करो।

तीसरी बात—यदि प्रयत्न करने पर भी उसमें योग्यता न आए तो उसे संघ से पृथक् कर दो।

अयोग्य व्यक्ति को गण का दायित्व मत सौंपो।

उज्झिया भोगवती नै घर सूंपिया, ते तो करे खजानो खुराब।
ज्यूं अवनीत नै गुण सूंपियां रे लाल, तो जाए टोला री आब रे॥
जिण टोळा में अविनीत छै, तिण सूं आछो कदे मत जांण।
तिण री खप करने ठाम आंणजो, नहीं तो परहरो चतुर सुजांण॥
ज्यूं अविनीत नै छोड्यां थकां, ज्ञानादिक गुण वधता जांण।
मिट जाये कलेस कदागरो, त्यां नै नेड़ी हुसी निरवांण॥
ज्यां रै सिखां रो लोभ लालच नहीं, ते तो दूर तजे अवनीत।
ते गरग आचारज सारिखा, गया जमारो जीत॥[1]

उज्झिता और भोगवती को घर सौंपने पर वे खजाने को नष्ट कर देती हैं वैसे ही अविनीत को गण सौंपने पर गण की आब चली जाती है।

---

१. विनीत अविनीत री चौपई, ढाल ४, गा. ९,१०,२६ व २९

जिस गण में अविनीत है, उससे गण का भला नहीं होगा। प्रयत्न कर उसे सुधार दो। अगर न सुधरे तो गण से अलग कर दो।

जैसे अविनीत को गण से अलग करने पर ज्ञान आदि गुणों की वृद्धि होती है, क्लेश और कदाग्रह मिट जाता है, उनके लिए मोक्ष पथ निकट हो जाता है।

जिनके शिष्यों का लोभ और लालच नहीं हैं वे अविनीत शिष्य को दूर से ही छोड़ देते हैं। वे गर्गाचार्य के समान हैं। वे जीवन में सफल हो जाते हैं।

७ फरवरी
२००४

संगठन : योग्यता का विमर्श

योग्यता पर ध्यान देना संगठन का एक महत्त्वपूर्ण मंत्र है। अयोग्य व्यक्ति को आगे लाना संगठन के पक्ष में हितकर नहीं होता। आचार्य भिक्षु ने इसे दो जागीरदारों के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है।

ज्यूं नीच ने ऊंच पदवी जीरवे नांहि,
जोय देखो लोकिक लोकोत्तर मांहि।
किण ही राय वधार्‌या अमराव दोय,
बले किया पदवी धर मोटा सोय॥[१]

जैसे निम्न वृत्ति के व्यक्ति को ऊंचा पद दिया जाए तो वह उसे पचा नहीं सकता। इस सचाई को लौकिक और लोकोत्तर दोनों क्षेत्रों में देखा जा सकता है। आचार्य भिक्षु ने इसे राजा के द्वारा पदोन्नत किए गए दो सामन्तों के उदाहरण से स्पष्ट किया है।

८ फरवरी
२००४

१. सांमधर्मी सांमद्रोही री ढाल, गाथा ९

संगठन और प्रमोद भावना

संघीय विकास के लिए बहुत आवश्यक है प्रमोद भावना, गुणानुराग। विनीत मुनि अनुशासन को, दूसरे मुनियों के विकास को देखकर ईर्ष्या नहीं करता किन्तु वह सबका हित चाहता है और संघ का विकास।

गुर गुर भाई नै टोळा तणा, गुण बोले रूड़ी रीत।
लोक पिण गुण ग्राम करतां थकां, सुण-सुण हरषै सुवनीत॥
सिख सिखणी मिले ओर साध नै, मिले उपधादिक अनेक।
बलै कंठकला देखी ओर नीं, विनीत तो हरखे वशेष॥
किण ही साध रो न करै ईशको, सर्व साध नै हुवै हितकार।
एहवा सुवनीत री वंसावली, फैले तीनूंइ लोक मझार॥[१]

गुरु, गुरु भाई और गण का अच्छी तरह गुणानुवाद करता है। दूसरे लोग गुणग्राम करते हैं, उन्हें सुन-सुनकर विनीत शिष्य हर्ष का अनुभव करता है।

किसी दूसरे साधु अथवा साध्वी को शिष्य, शिष्याएं मिलते हैं तथा औषध आदि अनेक द्रव्य मिलते हैं और किसी में विशिष्ट कण्ठ कला है, यह सब देखकर विशेष हर्ष का अनुभव करता है।

वह किसी साधु से ईर्ष्या नहीं करता, सब साधुओं का हित करने वाला होता है, ऐसे सुविनीत साधु की वंशावली तीनों लोक में फैलती है।

९ फरवरी
२००४

---

१. विनीत अविनीत री चौपई, ढाल ८.४४-४६

संगठन और एकल विहार (१)

आचार्य भिक्षु के समय में संघ, गण अथवा टोला से पृथक् होकर अकेले रहने की परम्परा चल पड़ी। इस पर आचार्य भिक्षु ने काफी प्रहार किया। उनकी दृष्टि में वर्तमान समय में एकल विहार अवाञ्छनीय है। संघ में रहने वाले सज्जन और असज्जन सब एक साथ रहते हैं। वे जिनाज्ञा को प्रधान मानकर वैसा करते हैं। जो आज्ञा का पालन नहीं कर पाता वह अकेला होकर विहार करता है। यह संगठन का बाधक है और जिनाज्ञा के प्रतिकूल है।

जिण सासण में आज्ञा नड़ी,
आ तो बांधी रे भगवंता पाळ।
अें तो सजन असजन भेळा रहे,
छांदे चाले रे प्रभु वचन संभाळ॥
छांदो रूंध्यां विण संजम नीपजै,
तो कुण चाले रे पर नी आग्या मांय।
सहु आप मते हुवै एकला,
खिण भेळा रे खिण बीखर जाय॥
आप मतें एकला हुवां,
तो सासण में रे पर जाए धमडोल।
एहवा अपछंदा री करै थापना,
ते पिण भूला भेद न पायो रह भोल॥[1]

---

१. एकल री चौपई, ढाल ४.१-३

जिन शासन में आज्ञा बड़ी है। तीर्थंकरों ने शासन सुरक्षा के लिए यह सेतु बंध किया है। प्रभु के वचन को ध्यान में रखकर जिन-शासन में दीक्षित होने वाले सज्जन और असज्जन सब एक साथ रहते हैं, सब शांतिपूर्वक सह-अस्तित्व करते हैं।

यदि अभिप्राय को रोके बिना संयम निष्पन्न होता हो तो दूसरे की आज्ञा को कौन मानेगा। सब अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार अकेला होते हैं। क्षण भर में मिल जाते हैं और क्षण भर में बिखर जाते हैं।

यदि अपनी इच्छा के अनुसार अकेला हो तो शासन में अव्यवस्था हो जाती है। इस प्रकार के स्वच्छंद विहारी का जो समर्थन करते हैं वे भी भूले हुए हैं। उन्होंने सच्चाई को समझने का प्रयत्न नहीं किया।

१० फरवरी
२००४

संगठन और एकल विहार (२)

प्राचीन काल में विशिष्ट साधना की दृष्टि से एकल विहार प्रतिमा का विधान था। उसके मानदण्ड निर्धारित थे। वर्तमान में वे मानदण्ड संभव नहीं हैं।

वर्तमान में विशिष्ट साधना की दृष्टि से अकेला विहार करने की बात कोई सोच सकता होगा किन्तु अधिकांश व्यक्ति अपने असंयम के कारण अकेले रहते हैं। आचार्य भिक्षु ने उन कारणों का निर्देश किया है।

कें कांसूं तो भेळो रहणी न आवें, तिण सूं फिरे एकलो आपे।
ते सुध साधां नै पिण कहे असाध, ते करें एकल री थाप रे॥
केइ क्रोधी कषाइ लोळपी होसी, ते फिरसी एकला।
वले विषें तणा वाया फिरे एकला,एह्वा एकल कदेय न भला रे॥[१]

कोई-कोई दूसरों के साथ नहीं रह सकता, इसलिए अकेला रहता है। शुद्ध साधुओं को असाधु बतलाता है और अकेले रहने की स्थापना करता है।

जो क्रोधी, तीव्र कषाय वाला और लोलुप है वह अकेला ही रहेगा। कुछ साधु विषय के वशीभूत होकर अकेले घूमते हैं। ऐसा एकल विहारी कभी भी अच्छा नहीं होता।

११ फरवरी
२००४

१. एकल री चोपी, गाथा १,२६

स्वच्छन्दता : संगठन की बाधा

आचार्य भिक्षु स्वच्छन्दता को संगठन के लिए बाधक मानते थे। जो स्वच्छन्द होता है वह अनुशासन का सम्यक् पालन नहीं कर सकता। वह प्रतिक्षण गिरगिट की भांति रूप बदलता रहता है। कभी संघ में दोष देखने लग जाता है और कभी संघ को सर्वोपरि मानने लग जाता है। आचार्य भिक्षु ने वैसे व्यक्ति की बबूल के पेड़ से तुलना की है—

जब गुर कहे तूं बोले सूधो, हिवड़ा मूल न दीसे ऊंधो।
रखे हुवेला विसासघाती, बांवलिया रा बीज रो साथी।।
बांवल बीज वायां पाणी पूगे, तो उ सूलां लीयांईज ऊगै।
बांवल बीज सुंहालो थो आगे,हिवै ज्यूं वधे ज्यूं सूलां लागे।।
ज्यूं तूं रहे छै गण मांहि, घणो विनो करै छै ताय।
रखे साध-साधवियां नै फारै, गुर सूं परिणाम उतारे।।
पछे आल दे नीकलेला बारे, औरा नै ले जावेला लारे।
पाछला नें परूपे असाध, करेला घणो विषवांद।।[1]

गुरु ने कहा—अभी तू सीधा बोल रहा है और बिल्कुल विपरीत दिखाई नहीं दे रहा है। संभव है—तू बबूल के बीज जैसा विश्वासघाती हो जाए।

अभी तू गण में रहता है और बहुत विनय करता है। संभव

१. विनीत अविनीत री ढालां, ढाल २, गा. १५ से १८

है—तू साधु-साध्वियों का मन भेद करे और गुरु के प्रति उनकी आस्था को भंग कर दे।

बाद में 'आल' देकर बाहर निकलेगा, दूसरों को भी साथ ले जाएगा। गण में रहने वाले साधुओं को असाधु बताएगा और विसंवाद बढ़ाएगा।

१२ फरवरी
२००४

संगठन का सूत्र (१)

आचार्य भिक्षु ने स्वभाव-परिवर्तन पर बहुत ध्यान दिया। संगठन की दृढ़ता के लिए आवश्यक है स्वभाव की योग्यता और अयोग्यता पर विचार करना। कोई साधु रुग्ण हो जाता है, उसकी सेवा करनी होती है, किन्तु वह संघ के लिए हानिकारक नहीं होता। अयोग्य व्यक्ति संघ की व्यवस्था में बाधक बनता है। सं. १८४५ के लिखत में इस विषय का समीचीन पथदर्शन मिलता है।

'धनै अणगार तो नव मास मांहै आत्मा रो किल्याण कीधो, ज्यूं इण नै पिण आत्मा रो सुधारो करणो। पिण अप्रतीतकारियो काम करणो न छै, रोगिया विचै तो सभाव रा अजोग नै मांहै राख्यौ भूण्डो छै।'[1]

धन्य अनगार ने नव मास के भीतर अपनी आत्मा का कल्याण किया वैसे ही अयोग्य साधु भी आत्मा का सुधार करे, किन्तु अप्रतीतिकारक कार्य न करे। रोगियों की अपेक्षा स्वभाव से अयोग्य को भीतर रखना अच्छा नहीं है।

१३ फरवरी
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४२, सं. १८४५ के लिखत का अंश।

संगठन का सूत्र (२)

आचार्य भिक्षु के समय साधु-संघ में शिष्य बनाने की स्वतंत्रता थी। उसका दुरुपयोग होने लगा। एक साधु अध्ययन के बाद कुछ योग्य बनता और वह कुछ शिष्य बनाकर अपना मत चलाने की खोज में लग जाता। इससे संगठन मजबूत नहीं बन पाता।

सं. १८५० के लिखत का विधान संगठन के विघटन को रोकने के लिए सुन्दर पथदर्शन है।

'कोइ दिख्या लेतो देख नै, अथवा जाण नै आप न्यारो हुवै नै, चेलो कर नै, नवो मारग काढ नै, आप रो मत जमावण रा त्याग छै। आ सरधा नै ओ आचार चोखो पालणो छै। किण ही रा परिणाम न्यारा होण रा हुवै, जद ग्रहस्थ आगै पैला री परती करण रा त्याग छै।'[1]

किसी को दीक्षा लेते देखकर अथवा जानकर स्वयं गण से अलग होकर, शिष्य बनाकर नया मार्ग स्थापित करने का, अपना मत जमाने का त्याग है।

इस श्रद्धा और आचार का अच्छी तरह पालन करना है। किसी साधु का गण से पृथक् होने का परिणाम हो तब गृहस्थ के सामने दूसरे साधु की उतरती करने का त्याग है।

१४ फरवरी
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४४, सं. १८५० के लिखत का अंश।

संगठन का सूत्र (३)

वही संगठन सुदृढ़ हो सकता है जिसके सदस्यों का अपने नेता के प्रति विश्वास होता है। उसी प्रकार अपने साथियों पर भी विश्वास होता है। इस विषय में लेखपत्र की कुछ पंक्तियां पठनीय हैं—

"मैं सविनय बद्धांजलि प्रार्थना करता हूं कि श्री भिक्षु, भारीमाल आदि पूर्वज आचार्य तथा वर्तमान आचार्य श्री महाप्रज्ञ द्वारा रचित सर्व मर्यादाएं मुझे मान्य हैं, आजीवन उन्हें लोपने का त्याग है। आप संघ के प्राण हैं, श्रमण परम्परा के अधिनेता हैं। आप पर मुझे पूर्ण श्रद्धा है। आपकी आज्ञा में चलने वाले साधु-साध्वियों को भगवान महावीर के साधु-साध्वियों के समान शुद्ध साधु मानता हूं। अपने आपको भी शुद्ध साधु मानता हूं।[१]"

इस विषय में आचार्य भिक्षु का सं १८५० का निर्देश इस प्रकार है—

'सर्व साधां नै सुध आचार पालणो नैं मांहोमां गाढो हेत राखणो, जिण ऊपर मरजादा बांधी—

कोई टोला रा साध साधवियां में साधपणों सरधो, आप मांहै साधपणो सरधो, तको टोला मांहै रहिजो।

कोई कपट दगा सूं साधां भेलो रहै, तिण नै अनंता सिद्धां

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४३, लेखपत्र का अंश

री आण छै। पांचू पदां री आण छै।

साधु नांव धराय नै असाधां भेलो रह्यां अनंत संसार बधै छै।[1]

सब साधु शुद्ध आचार का पालन करे, परस्पर गहरा हेत रखें, इस पर मर्यादा का निर्माण किया है–

कोई गण के साधु-साध्वियों में साधुपन माने, अपने आप में साधुपन माने वही गण में रहे।

कोई साधु कपट, ठगाईपूर्वक साधुओं के साथ रहे, उसे अनंत सिद्धों की 'आण' है। पांचों पदों की 'आण' है।

साधु का नाम धारण कर असाधु के साथ रहने से अनंत संसार की वृद्धि होती है।

१५ फरवरी
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४३, सं. १८५० के लिखत का अंश

संगठन का सूत्र (४)

वह संगठन कमजोर होता है, जिसमें सदस्यों की संख्या-वृद्धि की आकांक्षा प्रमुख होती है और सिद्धान्त गौण हो जाता है। आचार्य भिक्षु ने इस समस्या का गहराई से अनुभव किया और उसका समाधान करने के लिए दृढ़ता के साथ कहा– जिसमें संघ के प्रति आस्था हो वही संघ में रहे। शंकाशील होकर कोई संघ में न रहे।

सं. १८५० के लिखत का विधान है–

'जिण रो मन रजाबंध हुवै चोखीतरै साधपणो पलतो जाणै तो टोला मांहे रहिणो। आप में अथवा पैला में साधपणो जाण नै रहिणो। ठागा सूं मांहि रहिवा रा अनंता सिद्धां री साख सूं पचखांण छै।'[१]

जिसका मन सहमत हो, अच्छी तरह साधुपन पलता जाने तो गण में रहे। अपने आप में अथवा दूसरे में साधुपन माने तो रहे। प्रवंचनापूर्वक गण में रहने का अनंत सिद्धों की साक्षी से त्याग है।

१६ फरवरी
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४४, सं. १८५० के लिखत का अंश

संगठन और निस्पृहता

किसी साधु में शिथिलता आ जाती है। संघ की मर्यादा को पालने में अपने को असमर्थ पाता है। अकेला होकर सुविधा का जीवन जीना चाहता है। वह व्यक्ति संघ से पृथक होने के लिए जटिल प्रक्रिया अपनाता है। वह संघ के साधु साध्वियों को निम्न और अपने को उच्च बताकर पृथक् होता है। इस जटिल मानसिकता के प्रति सतर्क रहने के लिए आचार्य भिक्षु ने निर्देश दिया–

'किण ही साध-साधव्यां रा ओगुण बोल नै किण ही नै फार नै मन भांग नै खोटा सरधावण रा त्याग छै। किण ही रा परिणाम न्यारा होण रा हुवै जद ग्रहस्थ आगै पेली री परती करण रा त्याग छै।'[1]

किसी साधु और साध्वी के अवगुण बोलकर, किसी को फंटा कर, मन भेद कर साधु-साध्वियों के प्रति विपरीत श्रद्धा पैदा करने का त्याग है। किसी की गण से अलग होने की इच्छा हो तो गृहस्थ के सामने दूसरों की उतरती करने का त्याग है।

१७ फरवरी
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४३, सं. १८५० के लिखत का अंश

संगठन और आस्था

अनुशासन और संगठन के लिए जरूरी है निःशंकता। जो शंकित और संदिग्ध होकर संघ में रहता है वह अपना भी अहित करता है और संघ का भी हित नहीं करता। सं. १८४५ के लिखत में आचार्य भिक्षु द्वारा प्रदत्त निर्देश संगठन के लिए बहुत मननीय हैं।

'उणनै साधु किम जाणीये—जो एकलो ह्वैण री सरधा हुवै, इसरी सरधा धार नै टौला मांहै बेठो रहै छे—म्हारी इच्छा आवसी तो मांहै रहिसु, म्हारी इच्छा आवसी जद एकलो हुसूं, इसरी सरधा सुं टोला मांहै रहे ते तो निश्चै असाध छै। साधपणो सरधै तो पहिला गुणठाणां रो धणी छै। दगाबाजी ठागा सूं मांहै रहै, तिण नै मांहै राखै जाण नै, त्यां ने पिण महादोष छै।'[१]

उसे साधु कैसे जाने—जिसमें अकेला होने का संकल्प हो, इस प्रकार का संकल्प धारण कर गण में रहता है—मेरी इच्छा होगी तो गण में रहूंगा, मेरी इच्छा होगी तब गण से अकेला हो जाऊंगा। इस प्रकार की श्रद्धा से जो गण में रहता है वह निश्चित ही असाधु है। वह अपने आप में साधुपन माने तो पहले गुणस्थान वाला है। दगाबाजी अथवा ठगाई से गण में रहे और उन्हें जानकर गण में रखें तो वे भी महान दोष के भागी हैं।

१८ फरवरी
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४१, सं. १८४५ के लिखत का अंश

संगठन और अहंकार

गण में विद्यमान सब साधुओं की प्रकृति समान नहीं होती। कोई साधु विनम्र होता है तो कोई साधु अहंकारी।

अहंकारी का चरित्र विचित्र होता हे। प्रशंसा करने पर वह फूल जाता है। वर्जना करने पर वह गुरु का द्वेषी हो जाता है। ऐसे व्यक्ति के द्वारा संघ की श्रीवृद्धि नहीं होती।

मद विषें कषाय वस आत्मा, तिण सूं विनो कियो किम जाय।
तिण री बणे खुराबी अति घणी, ते सुणजो चित ल्याय॥
कोई गण में हुवे साधु अहंकारी, तिण री थोड़ा में हुय जाअें खुवारी।
उणरो गुण कही पोगां चढावें, तो उ थोड़ा में फलफूल थावें॥
जो उणनैं गुर गुरभाइ सरावें, तो उं मगज में पूरो न मावें।
जब रहे टोला में राजी, ठाला बादल ज्यूं करे ओगाजी॥[1]

जब आत्मा विषय और कषाय के वशीभूत हो जाती है तब वह विनय कैसे कर सकता है। उससे अत्यधिक खराबी होती है। उसे चित्त लगा कर सुनो।

गण में कोई साधु अहंकारी है, वह थोड़े में ही समस्या पैदा करता है। कोई व्यक्ति उसके गुण को बढ़ा चढ़ा कर कहता है तो वह थोड़े में ही फूल जाता है।

यदि गुरु और गुरुभाई उसकी सराहना करते हैं तो वह खुशी दिमाग में भी नहीं समाती। इस स्थिति में वह गण में राजी रहता है और खाली बादल की तरह गाजता रहता है।

१९ फरवरी
२००४

१. अविनीत रास, ढाल १, दुहा १, गाथा १ से ४

स्वार्थ : संगठन की समस्या

संगठन की एक समस्या है स्वार्थ। जब तक स्वार्थ सिद्ध होता है, व्यक्ति संगठन में रहता है और उसे महत्त्व देता है। स्वार्थ की पूर्ति न होने पर संगठन को छोड़ देता है और उसकी गरिमा को कम करने का प्रयत्न करता है। इस विषय में आचार्य भिक्षु ने व्यवस्था दी है–

'पेली तो गण में रहै जरे अनेक विनय भक्त करे, गण री रीत सर्व साचवे, मर्यादा पालै अनै सासण नै दिढावै। पछै स्वार्थ अणपूगां गण सूं टलै नै अनेक अवगुण आल पंपाल फरमी भाषा, चलित भाषा, झूठी भाषा आदि अनेक झूठ बोले तो तिण री बात एक लेखां में नहीं।'[1]

पहले गण में रहता है, उस समय अनेक प्रकार का विनय और भक्ति करता है। गण की सम्पूर्ण रीति का अनुसरण करता है, मर्यादा का पालन करता है और शासन की महिमा का बखान करता है। बाद में स्वार्थ पूरा न होने पर गण से अलग होकर अनेक अवगुण बोलता है, मनगढंत बातें करता है, फिरती भाषा बोलता है, चलती और झूठी भाषा बोलता है, इत्यादि अनेक प्रकार से झूठ बोलता है। उसकी एक भी बात पर ध्यान न दिया जाए।

२० फरवरी
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ३२१, सताईसवीं हाजरी का अंश

दोषकथन : संगठन की समस्या (१)

सामुदायिक जीवन की एक समस्या है दोषकथन। मुनि दीक्षा लेने वाला वीतराग नहीं होता, कभी उससे प्रमाद भी हो सकता है। उस दोष अथवा प्रमाद सेवन को लेकर परस्पर विसंवाद पैदा हो जाता है और संगठन के लिए वह एक समस्या बन जाता है। इस समस्या को सुलझाने के लिए आचार्य भिक्षु ने जो विधान किया, वह संगठन की एकता के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। सं. १८५० के लिखत का विधान है–

'किण ही साध आर्य्यां में दोष देखै तो ततकाल धणी नै कहिणो, अथवा गुरां नै कहिणो, पिण ओरा नै न कहिणो।

घणां दिन आडा घाल नै दोष बतावै तो प्राछित रो धणी उ हीज छै।

प्राछित रा धणी नै याद आवै तो प्राछित उण नै पिण लेणो, नहीं लेवै तो उण नै मुसकल छै।'[१]

किसी साधु और साध्वी में कोई दोष देखे तो वह तत्काल धणी (दोष सेवन करने वाले) को बताए अथवा गुरु को बताए पर दूसरों को न बताए। बहुत दिनों का अंतराल डालकर कोई दोष बताता है तो बताने वाला भी प्रायश्चित्त का भागी है।

दोष सेवन करने वाले व्यक्ति को याद आए तो उसे भी प्रायश्चित्त लेना चाहिए। यदि वह न ले तो उसी के लिए हानि की बात है।

२१ फरवरी
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४३, सं. १८५० के लिखत का अंश

दोषकथन : संगठन की समस्या (२)

ईर्ष्या, द्वेष, कलह—ये सब नकारात्मक भाव हैं। ये आत्मा को कलुषित और मन को मलिन बनाने वाले हैं। ये संगठन के लिए भी बहुत अहितकर हैं। इस सचाई का आचार्य भिक्षु ने अनुभव किया। उसका साक्ष्य है वि. सं. १८५० के लिखत का एक विधान।

'कोइ टोला मां सु टल नै साध साधवियां रा दोष बतावै, अवर्णवाद बोलै, तिण री मानणी नहीं, तिण नै झूठा बोलो जाणणो। साचो हुवै तो ग्यानी जाणै, पिण छद्मस्थ रा ववहार में झूठो जाणणो। एक दोष सूं बीजो भेलो करै ते अन्याइ छै। जिण रा परिणाम मेला होसी, ते साध आर्यां रा छिद्र जोय जोय नै भेलो करसी ते तो भारीकर्मां जीवां रा काम छै।'[1]

कोई साधु गण से अलग होकर साधु-साध्वियों के दोष बताए, अवर्णवाद बोले तो उसकी बात न मानी जाए। वह झूठ बोलने वाला है ऐसा जानना चाहिये। वह सच्चा हो तो ज्ञानी जाने। किन्तु छद्मस्थ के व्यवहार में उसे झूठा जानना चाहिए। एक दोष से दूसरा दोष इकट्ठा करे तो वह अन्यायी है। जिसका परिणाम अच्छा नहीं है वह साधु-साध्वियों के छिद्र देख देख कर इकट्ठा करे, वह तो भारी कर्मों वाले जीवों का कार्य है।

२२ फरवरी
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४४-४४५ सं. १८५० के लिखत का अंश

दोषकथन : संगठन की समस्या (३)

गृहस्थ भी धर्मसंघ का सदस्य होता है। वह साधु-साध्वियों के साधुत्व-पालन में सहयोगी बनता है। अनेक श्रावक संरक्षण देने का काम करते हैं। कुछ व्यक्ति भद्र स्वभाव वाले नहीं होते। वे छिद्रान्वेषण भी करते हैं। यह छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति संगठन को कमजोर बनाती है। इस प्रवृत्ति के प्रति जागरूक रहने का दृष्टिकोण सं १८५० के लिखत में मिलता है।

'कोई ग्रहस्थ साध साधवियां रो सभाव, प्रकृति अथवा दोष कहै, बतावै, जिण नै यूं कहिणो—मौं ने क्यानें कहो, कहो तो धणी नै कहो, कै स्वामीजी नै कहो, ज्यूं यां नै प्राछित दे ने सुद्ध करै, नहीं कहिसो तो थे पिण दोषीला गुरां रा सेवणहार छो। जो स्वामीजी नै नहीं कहिसो तो था मै पिण बांक छै। थे म्हांनैं कह्यां कांइ हुवै—यूं कहि नै न्यारो हुवै पिण आप बेहदा मांहे क्यानैं परै। पेला रा दोष धार नैं भेला करै ते तो एकंत मृषावादी, अन्याइ छै।'[1]

कोई गृहस्थ साधु-साध्वियों के स्वभाव अथवा दोष कहे, बताए उसको ऐसे कहा जाए—मुझे क्यों कहते हो, कहना हो तो 'धणी' (दोषी) को कहो अथवा स्वामीजी को कहो ताकि वे उसे प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करें। यदि नहीं कहोगे तो तुम भी दोषी गुरु मानने वाले

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४५, सं. १८५० के लिखत का अंश

हो। यदि स्वामीजी को नहीं कहोगे तो तुम्हारे मन में भी वक्रता है। आपने हमको कहा, उससे क्या लाभ हुआ—ऐसा कहकर वह उससे अलग हो जाए, किन्तु झगड़े में क्यों जाए।

जो दूसरे के दोष को धारण कर इकट्ठा करता है वह तो एकांत मृषावादी और अन्यायी है।

२३ फरवरी
२००४

दोष : समस्या और समाधान

आचार्य भिक्षु ने संघ को निर्दोष रखने के लिए अनेक दृष्टियों से विमर्श किया।

पारस्परिक कलह संगठन के लिए व्रण जैसा होता है। उससे बचने के लिए एक उपाय सूत्र का निर्देश किया गया। उसका फलितार्थ यह है—दोष को छिपाओ मत और उसके आधार पर विग्रह बढ़ाने का प्रयत्न भी मत करो। इस विषय का निर्देश सूत्र यह है—

'एक-एक नै चूक पड़्यां तुरत कहिजो, म्हां तांइ कजियो आणजो मती, उठै रो उठै निवेरजो, पूछ्यां अथवा अणपूछ्यां बीती बात कहि देणी।'[१]

किसी की गलती हो तो एक दूसरे को तुरंत कह देना। मेरे तक कलह को मत आने देना, वहीं का वहीं उसे निपटा देना, पूछे अथवा बिना पूछे आप बीती बात कह देनी।

२४ फरवरी
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४४, सं. १८५० के लिखत का अंश

दोष-विशुद्धि का उपाय

आचार्य भिक्षु का दोष-विशुद्धि के प्रति स्पष्ट चिन्तन था। यह उनका सिद्धान्त था—'दोष को दबाओ मत और फैलाओ मत। उसका सम्यक् प्रतिकार करो।' सम्यक् प्रतिकार का तरीका यह था—'जिसकी भूल हो उसको बता दो, उसे सावधान कर दो।' यह विधान केवल साधु-साध्वियों पर ही नहीं, आचार्य पर भी लागू होता था।

आचार्य छद्मस्थ हैं। उनके द्वारा कहीं कोई प्रमादाचरण भी हो सकता है। किसी साधु, साध्वी अथवा श्रावक को पता लगे तो उस स्थिति में उसी सिद्धान्त का अनुसरण करे, जिसका प्रयोग साधु-साध्वियों के लिए निर्दिष्ट किया है।

कदा गुरू ने पिण दोषण लागे, तो कहणों नहीं ओरां आगे।
गुर नें इज कहिणों सताब, घणा दिन नहीं राखणो दाब॥[1]

कदाचित् गुरु भी किसी दोष का सेवन करे तो किसी के सामने मत कहो। तत्काल गुरु को ही बताओ। उसे अधिक दिन छिपा कर मत रखो।

२५ फरवरी
२००४

१. अवनीत रास, ढाल १, गाथा २५२

संगठन का बाधक तत्त्व

कुछ श्रावक भी अविनीत होते हैं। वे दूसरों के सामने साधु-साध्वियों की निंदा करते हैं। उनका निंदा करने का तरीका भी अलग होता है। वे पहले किसी के पास जाकर मीठी-मीठी बातें करते हैं और इस प्रतिज्ञा के साथ कि तुम किसी से कहना मत, मैं तुम्हें गुप्त बात कह रहा हूं। इस प्रकार उसे बांध कर उसके सामने निंदा करते हैं। यह व्यवहार संगठन के लिए बहुत बड़ा विघ्न है।

केइ अविनीत श्रावक श्रावका, संके नहीं बांधता कर्म रे।
करै धर्म ठिकांणे कदागरो, नहीं ओलख्यो विनै मूल धर्म रे॥
ते साध साधव्यां री निंदा करै, अवगुण बोले विपरीत।
ते सूंस कराय ग्रहस्थ नैं, त्यां री भोला मांने परतीत॥[1]

कुछ अविनीत श्रावक-श्राविका कर्म का बंधन करते हुए शंकित नहीं होते। वे धार्मिक स्थान पर भी कदाग्रह करते हैं। उन्होंने विनयमूल धर्म को नहीं पहचाना।

वे साधु-साध्वियों की निंदा करते हैं, मिथ्या अवगुण बोलते हैं। वे गृहस्थ को त्याग करवाते हैं। भोले लोग उन पर विश्वास कर लेते हैं।

२६ फरवरी
२००४

---

१. विनीत अविनीत की चौपई, ढाल ६, गाथा १ व २

संगठन का बाधक तत्त्व : अविनय

आचार्य भिक्षु ने संगठन के पक्ष पर विचार करते समय विनीत और अविनीत इन दो शब्दों को सदा सामने रखा। संगठन के लिए आवश्यक है अनुशासन। अविनीत उसका अनुपालन नहीं करता। इसलिए वह संगठन को क्षत-विक्षत करता रहता है।

अविनीत साधु और अविनीत श्रावक दोनों मिल जाते हैं तो परस्पर खुश होते हैं और दोनों मिलकर संगठन के लिए अनिष्ट प्रयत्न करते हैं।

अविनीत नै अविनीत श्रावक मिले,ते पांमे घणो मन हरख।
ज्यू डाकण राजी हुवै, चढ़वा नै मिलियो जरख॥
डाकण जरख चढी फिरै, ज्यूं अविनीत अविनीत रै साथ।
डाकण मारै मिनख नै, ज्यूं ए करे समकत री घात॥[1]

अविनीत को अविनीत श्रावक मिलता है तब वह साधु मन में बहुत हर्षित होता है जैसे डाकिन चढ़ने के लिए जरख मिलने पर राजी होती है।

डाकिन जरख पर चढ़कर घूमती है वैसे ही अविनीत अविनीत के साथ घूमता है। डाकिन मनुष्य की घात करती है वैसे ही अविनीत सम्यक्त्व की घात करता है।

२७ फरवरी
२००४

---

१. विनीत अविनीत की चौपई ढाल ५, गाथा २८-२९

संगठन का बाधक तत्त्व : दलबन्दी (१)

जिसके मन में दलबन्दी करने की भावना होती है उसका व्यवहार बदल जाता है। वह दूसरे साधुओं को अपने साथ लेने के लिए सर्वप्रथम गुरु के प्रति अनास्था पैदा करता है। आचार्य भिक्षु ने वैसी मनोवृत्ति का सटीक वर्णन किया है।

बले गुरु में अवगुण दरसावै, झूठा-झूठा दोष बतावै।
बले निंद्या करै छानै-छानै, जिण रै उसभ उदै ते मांने॥
जिणनै गुरु सूं करै उपराठों, आपरो कर राखे काठो।
तिणनै निसंक आपरो जाणे, तिणनै घणो-घणो बखांणे॥
और साध मेळे उण साथ, जब पिण करै विसासघात।
उणनै फार करै आप कानी, पछै निंद्या करै मनमानी॥
इण विध करै फारा तोड़ी, गुरु सूं छानै-छानै करै चोरी।
त्यां सूं छानै-छानै जिलो बांधे,जिण धर्म न ओळख्यो आंधे॥
मांहोमां मिल जिलो बांधे, गुरु आज्ञा विण आपरै छांदै।
इसड़ो करे अकारज खोटो, तिणनै दोष लागे छै मोटो॥[1]

गुरु में अवगुण दिखाता है, झूठे-झूठे दोष बताता है, छिप-छिप कर निंदा करता है। जिसके अशुभ कर्म का उदय होता है, वह दलबंदी करने वाले की बात मानता है।

उसको गुरु से दूर करता है, अपना बनाकर रखता है, उसे

---

१. अविनीत रास ढाल १, गाथा १२१ से १२५

निःशंकित होकर अपना मानता है और उसका बहुत अधिक व्याख्यान करता है।

दलबंदी करने वाले साधु के साथ किसी दूसरे साधु को भेजा जाता है तो वह आचार्य के साथ विश्वासघात करता है। अपने साथ भेजे गए साधु का मन-भेद कर उसे अपने साथ कर लेता है और फिर उसके सामने खुले रूप में निंदा करता है।

इस प्रकार मन भेद कर, तोड़कर, गुरु से छिपे-छिपे चोरी करता है, उनसे छिप-छिप कर दलबंदी करता है, वह अंधा है, उसने जिनधर्म को नहीं पहचाना।

गुरु की आज्ञा बिना अपनी स्वच्छन्दता से परस्पर मिलकर दल बनाता है। इस प्रकार का गलत कार्य करता है, उसे भारी दोष लगता है।

२८ फरवरी
२००४

संगठन का बाधक तत्त्व : दलबन्दी (२)

सरल व्यक्ति दलबन्दी नहीं कर सकता। जो मायाचार जानता है, जो अपने चेहरे को बदलना जानता है, उसके आगे का चेहरा अलग होता है और पीछे का चेहरा अलग होता है, वह दलबंदी करता है। आचार्य भिक्षु ने ऐसे व्यक्ति के चरित्र का बहुत मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया।

एहवा गेंरी थका गण मांय, तिणरी गुरु ने खबर न कांय।
मुख उपर तो करै गुणग्रांम, छानै छानै करै एहवा कांम॥
गुरु रै मुख तो गुण गावै, छानै छानै अवगुण दरसावै।
मुख उपर तो बोलै राजी, छानै करै दगाबाजी॥
बलै वांदै गुरु नै जोड़ी हाथो, पगां में देवे नित नित माथो।
वांदतांई करै गुणग्राम, सारा पेहली लै गुरु रो नाम॥
बले लोकां नै वंदणा सिखावै,त्यांमै पिण गुरु नो नाम घलावै।
लोकां आगै करै गुणग्राम, पिण मना रा मैला परिणाम॥[1]

ऐसा भिन्न (विरोधी) विचार वाला साधु गण में रहता है पर गुरु को उसकी कोई खबर नहीं होती। मुख के सामने तो गुणग्राम करता है और छिप-छिप कर ऐसे काम करता है।

गुरु के सामने गुरु के गुण गाता है, छिप-छिप कर अवगुण दिखाता है। मुख के सामने तो राजी-राजी बोलता रहता है और

१. अविनीत रास, ढाल १, गाथा १२९ से १३२

छिपकर दगेबाजी करता है।

गुरु को हाथ जोड़कर वंदना करता है, प्रतिदिन चरणों में सिर झुकाता है, वंदना के समय गुणग्राम करता है, सबसे पहले गुरु का नाम लेता है।

लोगों को वंदना व्यवहार सिखाता है, उसमें गुरु के नाम का समावेश करता है, लोगों के आगे गुणग्राम करता है पर मन का परिणाम—मानसिक चिंतन मलिन रहता है।

२९ फरवरी
२००४

दलबंदी

दलबंदी के विषय में आचार्य भिक्षु ने विस्तृत चिंतन किया, इसके विषय में एक विस्तृत व्यवस्था की और एक महत्त्वपूर्ण मर्यादा सूत्र दिया—

'टोला मांहे पिण साधां रा मन भांग नै आप-आप रे जिलै करै ते तो महाभारीकर्मो जांणवो, विसवासघाती जांणवो। इसड़ी घात-पावड़ी करै ते तो अनंत संसार नी सांइ छै।

इण मरजाद प्रमाणै चालणी नावै, तिण नै संलेखणां मंडणो सिरै छै।[1]

गण में साधुओं का मन भेद कर अपना-अपना दल बनाता है तो उसे महान् भारी कर्म वाला जानें, विश्वासघाती जानें, ऐसा छल कपट करता है वह तो अनंत संसार की निशानी है।

इस मर्यादा के अनुसार जो चल नहीं सके उसके लिए श्रेय है—संलेखना स्वीकार करना।

१ मार्च
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४२, सं १८४५ के लिखत का अंश

दलबंदी : एक नया विकल्प

आचार्य भिक्षु ने साधुओं की दलबंदी के बारे में काफी चिंतन किया। इस विषय में उन्होंने एक नया विकल्प दिया। वह अध्यात्म चिंतन से अनुप्राणित है।

'गण में रहूं निरदावे एकलो, किण सूं मिले न बांधूं जिलो।
किणनें रागी करै राखूं म्हांरो, एहवो पिण नहीं करूं बिगाडो।'[1]

मैं गण में अप्रतिबद्ध होकर अकेला रहूंगा। किसी से मिलकर दलबंदी नहीं करूंगा। किसी को अपना रागी बनाकर रखूं, ऐसा विकृत कार्य भी नहीं करूंगा।

२ मार्च
२००४

१. विनीत अविनीत री ढाल, ढाल २ गाथा २४

पारस्परिक संबंध (१)

साधु-साध्वियों के परस्पर संबंध के विषय में सं. १८५०के लिखत में साधुओं के लिए मर्यादा का विधान है। साध्वियों के लिखत में पारस्परिक संबंध का निर्देश साध्वियों के लिए दिया गया है।

'गुरां री आज्ञा बिना साधां भेली रहिणो नहीं, कनै बेसणो नहीं, उभी पिण रहिणो नहीं।

उपगरण रो देवो लेवो करणो नहीं, साधा नै सांभलै तिण गाम में जाणों नहीं।

कदाच जाण्यां बिना जाए अथवा मारग मांहे गाम हुवै तो एक रात्रि सूं अधिको रहिणो नहीं। कारण परे जाए तो गोचरी रा घर बांट लेणा, पिण नित रो नित गोचरी पूछणी नहीं।

वंदणा करण जाए तो अलगा थका वंदणा कर नै सताब सूं पाछो वलणो, ऊभा रहिणो नहीं।

कोइ साधां रा समाचार पूछणां हुवे तो अलगा थी पूछनै सताब सूं पाछो वल जाणो, पिण उभो रहिणो नहीं। गुरां रा कह्यां थी, कारण पड्या री बात न्यारी।'[1]

कोई भी साध्वी गुरु की आज्ञा बिना साधुओं के स्थान पर न रहे, न बैठे, खड़ी भी न रहे। उपकरण का लेना देना नहीं करे।

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४८, सं. १८५२ के लिखत का अंश

जिस गांव में पहले से साधु हैं, यह पता लगने पर उस गांव में न जाए।

कदाचित् बिना जानकारी के जाए अथवा मार्ग में गांव हो तो एक रात से अधिक न रहे। कारणवश रहना पड़े तो गोचरी के घर बांट ले किंतु प्रतिदिन गोचरी की पूछताछ न करे।

वंदना करने जाए तो दूर से वंदना करे, वंदना करके शीघ्र मुड़ जाए, वहां खड़ी न रहे।

गुरु के कोई समाचार पूछना हो तो दूर से पूछकर शीघ्र वापस मुड़ जाए किन्तु वहां खड़ी न रहे। गुरु के कहने से अथवा विशेष कारण की बात न्यारी है।

३ मार्च
२००४

पारस्परिक संबंध (२)

आचार्य भिक्षु ने अस्वीकार की अपेक्षा व्यवस्था पर अधिक ध्यान दिया। एक संघ में दीक्षित साधुओं और साध्वियों में परस्पर संबंध न रहे, यह संभव नहीं है।

संबंध समस्या पैदा न करे, अव्यवस्था में यह भी संभव नहीं है।

आचार्य भिक्षु ने पारस्परिक संबंधों को मान्यता दी और एक समीचीन व्यवस्था दी। उसका प्रारूप यह है—

'आर्यां सूं देवो लेवो लिगार मातर करणो नहीं। बड़ा री आज्ञा विना आगै आर्य्यां हुवै जठै जाणो नहीं। जावै तो एक रात रहिणो, पिण अधिको रहिणो नहीं। कारण पड़िया रहै तो गोचरी रा घर बांट लेणां, पिण नित रो नित पूछणों नहीं। कनै बैसण देणी नहीं, ऊभी रहिण देणी नहीं, चरचा बात करणी नहीं। बड़ा गुरवादिक रा कह्या थी, कारण की बात न्यारी छै।'[१]

कोई भी साधु किसी साध्वी को न कुछ दे और न कुछ ले। बड़ों की आज्ञा के बिना जहां साध्वी हो उस गांव में न जाए, जाए तो एक रात रहे, किन्तु अधिक न रहे। कारणवश रहे तो गोचरी के घर बांट ले, किन्तु रोजाना न पूछे। साध्वी को अपने पास न बैठने दे, न खड़ी रहने दे, चर्चा बात न करे, आचार्य के कहने से अथवा किसी कारण विशेष से करे तो बात न्यारी है।

४ मार्च
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४५, सं. १८५० के लिखत का अंश

पारस्परिक व्यवहार के सूत्र (१)

आचार्य भिक्षु ने अपने शिष्यों को सदा कसौटी पर रखा। उनकी परिणाम धारा में किंचित् भी शिथिलता न आए, इसकी जागरूकता बरती। साध्वियों की स्थितियों के प्रति बहुत सतर्क रहे। सतर्कता के निर्देश सं. १८५२ के लिखत में मिलते हैं।

'बलै कोइ याद आवै ते पिण लिखणो, बलै करली-करली मर्यादा बांधै त्यां में पिण अनंता सिद्धां री साख कर नै नां कहिण रा त्याग छै।

ए मर्यादा पालण रा परिणाम हुवै ते आरै होयजो कोइ सरमासरमी रो काम छै नहीं।

किण ही आर्यां आज पछै अजोगाइ कीधी तो प्रायछित तो देणो, पिण उण नै च्यार तीर्थ मांहै हेलणी निंदणी परसी, पछै कहोला मनै भांडै छै, म्हारो फितूरो करै छै, तिण सूं पहिलाज सावधान रहिजो। सावधान नहीं रही तो लोका में भूंडी दीसोला, पछै कहोला म्हांनै कह्यो नहीं।'[१]

पुनः कोई बात याद आए तो वह भी लिखना है। पुनः कठिन-कठिन मर्यादा का निर्माण करे। उनके बारे में भी अनंत सिद्धों की साक्षी करके 'ना' कहने का त्याग है।

यह मर्यादा पालने का भाव हो तो वह स्वीकार करो, कोई

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४९, सं. १८५२ के लिखत का अंश

संकोच का काम नहीं हैं।

किसी भी साध्वी ने आज के बाद अयोग्य कार्य किया तो प्रायश्चित्त तो देना ही है किन्तु उसकी चार तीर्थ में अवहेलना, निंदा करनी पड़ेगी। फिर कहोगे मुझे बदनाम कर रहे हैं, मेरी भद्दी लगा रहे हैं। उससे पहले ही सावधान रहना। यदि सावधान नहीं रहोगी तो लोगों में भद्दी दिखोगी, फिर कहोगी मुझे कहा नहीं है।

५ मार्च
२००४

पारस्परिक व्यवहार के सूत्र (२)

साधु जीवन का व्यवहार सहज शालीन होना चाहिए। किन्तु प्रकृति की विचित्रता के कारण अशालीन व्यवहार भी हो जाता है। आचार्य भिक्षु ने इस स्थिति का गंभीरतापूर्वक अध्ययन किया और उसे बदलने के लिए अनेक व्यवस्था सूत्र दिए।

'प्रायछित आयो तिण रो मोसो बोलै, जितरा पांच-पांच दिन रा त्याग।

ग्रहस्थ आगै टोला रा साध आर्यां री निंद्या करै तिण नै घणी अजोग जाणणी। तिण नै एक मास पांचू विगै रा त्याग। जितरी वार करै जितरा मास पांचू विगै रा त्याग।

आर्यां री मांहो-मांही री बातां कराय नै उणरो परतो वचन उण कनै कहै, उणरो मन भागै जिसो कहि नै, मन भागै तो १५ दिन पांचू विगै रा त्याग।

मांहोमांहि कहै तूं सूंसां री भागल छै, एहवो कहै तिण रे १५ दिन विगै रा त्याग छै। जितरी वार कहै जितरा १५ दिनां रा त्याग छै।'[१]

किसी को प्रायश्चित्त आए, उसके विषय में जितनी बार व्यंग्य करे उतने दिन पांच-पांच विगय का त्याग।

गृहस्थ के सामने गण में साधु-साध्वी की निंदा करे, वह बहुत अयोग्य है, ऐसा जाने। उसे एक महीने तक पांच विगय का त्याग।

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४३८, सं. १८३४ के लिखत का अंश

जितनी बार करे उतने महीने तक पांच विगय का त्याग।

साध्वियों के परस्पर की बातों को कराए और एक की उतरती बात दूसरी को कहे, उसका मन भेद हो ऐसी बात कहे। वैसा कह कर यदि मन-भेद करे तो १५ दिन पांच विगय का त्याग।

परस्पर कहे कि तूं त्याग का भंग करने वाली—ऐसा कहे उसे १५ दिन विगय के त्याग हैं। जितनी बारे कहे उतनी ही बार (प्रत्येक बार) १५-१५ दिन विगय का त्याग है।

६ मार्च
२००४

पारस्परिक व्यवहार के सूत्र (३)

आचार्य भिक्षु के समय साध्वियों की व्यवस्था संतोषजनक नहीं थी। उस अवस्था में स्वच्छन्दता भी पनपी थी और पारस्परिक व्यवहार भी मधुर नहीं था। परिस्थिति के अध्ययन के बाद उन्होंने जो व्यवस्था दी उसके कुछ सूत्र निम्नलिखित हैं–

आंसू काढै जितरी बार १० दिन विगै रा त्याग छै, कै पनर दिन मांहे बेलो करणो। इत्यादिक करलो काठो वचन कहै तिण नै यथा जोग प्रायछित छै।

ए विगै रा त्याग छै ते उण री इच्छा आवै जद साधां सूं भेला हुवां पहिली टालणी। जो नहीं टालै तो बीजी आर्या यूं कहिणा पावै नहीं तूं टालइज। साधां नैं कहि देणो। साधां री इच्छा आवै तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जांण नै और दण्ड देसी, अनै साधां री इच्छा आवसी तो विगै रो त्याग घणो करावसी।

बलै आर्या रे मांहोमांहि साध-साधवियां नै न कल्पै न शोभे तका लोकां नै अणगमती लागै उण री जातादिक रो खूंचणो काढणो, जिण भाषा रो पिण साधां री इच्छा आवै जितरा दिन विगै रा त्याग देवै ते कबूल करणो छै।

जिण आर्य्यां नै और आर्य्यां साथै मेल्या ना न कहिणो। साथै जाणो। न जावै तो पांचू विगै खावा रा त्याग, न जाए जितरा दिन। बलै और प्रायछित जठा बारै।

साधां रा मेलीयां बिना आर्यां और री और साथे जावै तो जितरा दिन रहैं जितरा पांचू विगै रा त्याग, बलै और भारी प्रायछित जठा बारै।[1]

आंसू निकाले उतनी बार १० दिन विगय का त्याग है या १५ दिन में बेला (२ उपवास) करना। इस प्रकार कठोर वचन कहे उसके लिए यथायोग्य प्रायश्चित्त का विधान है।

यह विगय वर्जन उसकी इच्छा हो तब आचार्य के पास आए उससे पहले विगय का वर्जन करना है। यदि विगय नहीं छोड़े तो दूसरी साध्वी उसे यह कह नहीं सकती कि तुझे विगय छोड़नी पड़ेगी।

आचार्य के पास आकर आचार्य को बता दे। आचार्य की इच्छा हो तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जानकर उसे और अधिक दंड देंगे और आचार्य की इच्छा होगी तो अधिक दिन विगय का त्याग कराएंगे।

पुनः साध्वियां परस्पर जो साधु-साध्वियों के लिए योग्य नहीं हैं, शोभा नहीं देता, लोगों को अप्रिय लगे, इस प्रकार जाति के आधार पर किसी की अवमानना न करे। यदि अवमानना की भाषा का प्रयोग करे तो आचार्य जितना उचित समझे उतने दिन विगय वर्जना का प्रायश्चित्त दें। वह सर्व कबूल करे।

जिस साध्वी को किसी दूसरी साध्वी के साथ भेजे तो मना न करे, साथ जाए। जितने दिन न जाए उतने दिन पांच विगय खाने

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४३८, सं. १८३४ के लिखत का अंश

का त्याग। और दूसरा प्रायश्चित्त उसके अतिरिक्त दिया जा सकता है।

आचार्य के बिना भेजें साध्वियां किसी दूसरे के साथ जाएं तो जितने दिन रहें उतने दिन पांच विगय का त्याग है और उसके अतिरिक्त भारी प्रायश्चित्त भी दिया जा सकता है।

७ मार्च
२००४

पारस्परिक व्यवहार के सूत्र (४)

पारस्परिक व्यवहार का एक अमूल्य सूत्र है सौमनस्य। एक साथ रहने वालों में यदि सौमनस्य रहता है तो जीवन समाधिपूर्ण रहता है। आचार्य भिक्षु ने मनश्चिकित्सक की भांति अनुत्तर निर्देश और संकल्प दिए, जो शांतिपूर्ण सहवास को चिरजीवी बनाते हैं।

'जिण आर्य्यां साथै मेल्या तिण आर्य्यां भैली रहै, अथवा मांहि मांहि सेखे काल भेली रहै, अथवा चोमासे भेली रहै, त्यांरा दोष ह्वै तो साधां सू भेला हुवां कहि देणो, न कहै तो उतरो ही प्रायछित उण नै छै।

पछै घणां दिन आडा घाल नै कहै तो साचो कहै तो झूठो कहै तो उवा जाणै, कै केवली जाणे, पिण छद्मस्थ रा व्यवहार में तो घणां दिन री बात उदेरे राग द्वैष रे वस, आप रै स्वार्थ न उदीरे, स्वार्थ न पूगां उदीरे तिण री प्रतीत माननी नहीं आवै।

ग्रहस्थां मांहै आमना जणाय नै मांहि मांहि एक-एक री आसता उतारै, तिण में तो अवगुण घणाइज छै।'[१]

जिन साध्वियों के साथ भेजा उन साध्वियों के साथ रहे अथवा परस्पर शेष काल में रहे अथवा चातुर्मास में साथ रहे उनमें दोष हो तो आचार्य का दर्शन करने पर कह दे। यदि न कहे तो

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४३९, सं. १८३४ के लिखत का अंश

उतना ही प्रायश्चित्त उसको है।

उसके बाद बहुत दिन का अंतराल डालकर कहे तो सच कहा या झूठा कहा वह तो वही जाने अथवा केवली जाने, किंतु छद्मस्थ के व्यवहार में बहुत दिनों की बात राग द्वेष वश सामने लाए। अपना स्वार्थ सधता हो तो उसे सामने नहीं लाती। अपना स्वार्थ न सधता हो तो उसे सामने लाती है। उसकी प्रतीति न की जाए।

गृहस्थों को संकेत जताकर परस्पर एक दूसरे की आस्था में कमी करे, उसमें तो अनेक अवगुण हैं।

८ मार्च
२००४

सौमनस्य का सूत्र

अपने साथी के प्रति शालीन व्यवहार होना चाहिए। दूसरे की त्रुटि को सुनने में प्रकृति सिद्ध रस होता है। आचार्य भिक्षु ने उससे उत्पन्न होने वाली समस्याओं को ध्यान में रखकर निर्देश दिया, वह परस्पर सौमनस्य बनाए रखने के लिए बहुत कारगर निर्देश है।

'कोई साध-साधवियां रा ओगुण काढै तो सांभलण रा त्याग छै। इतरो कहिणो–'स्वामीजी नै कहिज्यो।' जिण रा परिणाम टोला मांहै रहिण रा हुवै ते रहिजो। पिण टोला बारै हुवां पछै साध-साधवियां रा ओगुण बोलण रा अनंत सिद्धां री साख कर नै त्याग छै। कोइ टोला बारै नीकली री बात उण लखणो होसी ते मानै, भेषधारी भागल जिन धर्म रा द्वेषी होसी ते मानसी, पिण उत्तम जीव तो न मानैं।'[1]

कोई व्यक्ति साधु-साध्वियों के अवगुण निकाले तो सुनने का त्याग है। इतना कहना–'स्वामीजी को कहो।' जिसका गण में रहने का भाव हो, वह गण में रहे। किन्तु गण से बाहर होने के बाद साधु-साध्वियों के अवगुण बोलने का अनंत सिद्धों की साक्षी से त्याग है। गण से बहिर्भूत होने वाली साध्वी की बात उसके समान चरित्र वाला व्यक्ति मान सकता है। भेषधारी, व्रत भंग करने वाला और जो जिन धर्म का द्वेषी होगा वह मान सकता है किन्तु उत्तम जीव उसे नहीं मानेगा।

९ मार्च
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४९, सं. १८३४ के लिखत का अंश

व्यवहार-विश्लेषण

आचार्य भिक्षु ने साधुओं के व्यवहारों का गंभीर अध्ययन किया। उससे प्रतीत होता है कि प्रशिक्षण के अभाव में साधुजन भी पारस्परिक संबंधों में ऋजुता नहीं ला पाते। इस विषय में आचार्य भिक्षु रचित कुछ पद्य ध्यातव्य हैं।

इसरी करै अविनां री थाप, मांहोमां कियो त्यांरै मिलाप।
बले जिलो बांधण रे काज, हिवै कुण-कुण करै अकाज॥
हिवै मिल-मिल नै करै चोरी, गण में करै फारातोरी।
उणरी बात करै उण आगै, जिण विध मांहोमां कलह लागै॥
गुरु सूं पिण मेले मूरष दांडी, तिण भेष ले आ मा भांडी।
गुरु सूं चेलो हुवै उदास, तेहवी बात कहै तिण पास॥[1]

अविनीत साधु इस अविनय की स्थापना करता है और परस्पर मेल-मिलाप करता है, दलबंदी करने के लिए क्या-क्या अकरणीय कार्य करता है, वह आगे बताया जा रहा है।

दलबंदी में लिप्त व्यक्ति परस्पर मिलकर चोरी करते हैं, गण में तोड़फोड़ करते हैं। यह धर्मसंघ की चोरी है। एक व्यक्ति की बात दूसरे के सामने करता है जिससे परस्पर कलह हो जाए।

गुरु से भी टेढ़ा चलता है। उसने मुनि का वेश लेकर आत्मा को अवमानित किया है। दलबंदी करने वाला अविनीत के सामने ऐसी बात कहता है जिससे वह गुरु के प्रति उदासीन हो जाए।

१० मार्च
२००४

१. अवनीत रास, ढाल १, गाथा १०९ से १११

गण वृद्धि का पहला पद

जयाचार्य ने आचार्य भिक्षुकृत मर्यादा, अनुशासन और व्यवस्था को समृद्ध बनाने के लिए अनेक शिक्षा-पदों का निर्माण किया। उनमें एक महत्त्वपूर्ण शिक्षा-पद है 'गणपति-सिखावण'। उसका प्रथम पद है व्यवस्था। इस प्रकरण में आचार्य के लिए उपयोगी पदों का निर्देश किया गया है।

गण वृद्धि चाहो सुगणपति, समणी संपद हाथ।
तो नेठाउ पंच ते, अधिक म सूंपौ आथ॥
कोई समणी नै गणी, सूंपै सत्यां सवाय।
अन्य अज्जा वा मुनि भणी, तर्क न करणी ताय॥[1]

सुगणपति! यदि गण की वृद्धि करना चाहो तो स्थाई रूप में एक अग्रणी को पांच से अधिक साध्वियां मत दो।

किसी साध्वी को आचार्य अधिक साध्वियां दें तो दूसरे साधु अथवा साध्वियां उस विषय में तर्क न करें।

११ मार्च
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ५७, गणपति-सिखावण, गाथा १,२

गण वृद्धि का दूसरा पद

प्रस्तुत पद में आचार्य के पास रहने वाली साध्वियों के बारे में विधान किया गया है।

आचार्य के पास अनेक साध्वियां रहती हैं। उन्हें विशेष कारण के बिना एक 'साझ' में मत रखो। यदि अधिक साध्वियां हो तो अधिक साझ की व्यवस्था करो।

इमज गणी पासे रह्यां, एक साज रे मांय।
बहु अज्जा नहीं राखणीं, कारणिक विण ताय।।
गणी समीपे बहु रहै, तो बहु साज करेह।
पिण इक साजे बहु अज्जा, नेठाउ मत देह।।
प्रकृति तनु रोगी विरध, जो तिण ने सोंपेह।
तास निभावा अधिक दै, अवसर देखी जेह।।[1]

आचार्य के पास अनेक साध्वियां रहती हैं। विशेष कारण के बिना उन्हें एक 'साझ' में मत रखो।

आचार्य के पास अधिक साध्वियां रहे तो बहुत 'साझ' की व्यवस्था करो। किन्तु एक 'साझ' में बहुत साध्वियों को स्थाई रूप में मत दो।

कोई साध्वी प्रकृति की रोगी है, शरीर से रुग्ण है उसका निर्वाह करने के लिए आचार्य अवसर के अनुसार अधिक भी दे तो दिया जा सकता है।

१२ मार्च
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ५७-५८, गणपति-सिखावण, गाथा १० से १२

गण वृद्धि का तीसरा पद

शिष्य-शिष्याएं सब आचार्य के होंगे—यह आचार्य भिक्षु कृत एक मौलिक मर्यादा है। उस समय दीक्षा देने के विषय में स्वतंत्रता थी। कोई भी उपयुक्त व्यक्ति प्रतीत होता तो साधु-साध्वियां उसे दीक्षित कर लेते। यह चालू परम्परा थी।

जयाचार्य ने इस विषय में एक शिक्षापद का निर्माण किया—अन्यत्र विहार में कोई साधु या साध्वी दीक्षा दे तो गुरु-दर्शन करने पर उसे लेकर कहीं अन्यत्र स्थान पर नियोजित करना आवश्यक है।

गण वृद्धि चाहो सुगणपति, जे कोइ दीक्षा देह।
सिख-सिखणी लेणा उरा, इण में गुण अधिकेह॥
अधिक गुणी मुनिवर अज्जा, सूंपै तसु कर दीख।
ते अन्य नै तसु ईसको, नहीं करवूं ए सीख।
तथा द्रव्य क्षेत्रादिके, गणि सोंपै तसु दीख।
करै तास कोई ईसको, ते अवनीत अलीक॥[1]

सुगणपति! यदि गण की वृद्धि चाहो तो साधु-साध्वियां किसी को आचार्य की आज्ञा के अनुसार बहिर्विहार में दीक्षा दे तो उसे एक बार ले ले। इसमें अधिक गुण है।

कोई साधु अथवा साध्वी अधिक गुणवान है उसे आचार्य

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ५७, गणपति-सिखावण, गाथा ३ से ५

दीक्षा देने वाले को सौंप दे तो दूसरे साधु और साध्वियां ईर्ष्या न करें।

तथा द्रव्य और क्षेत्र को देखकर आचार्य दीक्षा देने वाले को दीक्षित साधु-साध्वी सौंपते हैं उसके प्रति कोई ईर्ष्या करता है वह अविनीत है और मिथ्या व्यवहार करने वाला है।

१३ मार्च
२००४

गण वृद्धि का चौथा पद

जयाचार्य के समय में दो संघीय समस्याओं के समाधान की अपेक्षा थी–

१. अध्ययन के लिए हस्तलिखित प्रतियां पर्याप्त मात्रा में नहीं मिल रही थी।

२. ग्लान साधु-साध्वियों की सेवा की अपेक्षा थी।

जयाचार्य ने इन दोनों समस्याओं के समाधान के लिए एक व्यवस्था दी–

१. अग्रणी प्रतिदिन २५ गाथा लिखे।

२. अग्रणी जितने दिन अग्रणी के रूप में विहार करे उतने दिन ग्लान की सेवा करे।

गण वृद्धि चाहो सुगणपति, त्रिण मुनि जे अगवाण।
गाहा पणवीस बहुलपणै, बलि द्रव्यादि पिछाण॥
जिता दिवस अगवाण बण, विचरै जे सिंघाड़।
तेता दिवस गिलाण नीं, व्यावच करणी सार॥
तथा करावै कार्य अन्य, तसु पेटे विख्यात।
बलि गुण जाणै तिम करै, (पिण) संपति राखै हाथ॥
अधिक गुणी मुनिवर कन्है, जो न लिखावै गाह।
अन्य मुनि नै तसु ईसको, करिवो नहीं सुराह॥[1]

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ५७, गणपति-सिखावण, गाथा ६ से ९

सुगणपति! यदि गण की वृद्धि करना चाहो तो तीन मुनियों में जो अग्रणी हो उसके लिए प्रायः पचीस गाथा लिखना अनिवार्य कर दो। द्रव्य क्षेत्र की बात अलग है।

जितने दिन सिंघाड़े में अग्रगामी बनकर विहार करे उतने दिन तक वह ग्लान की सेवा करे।

उसके स्थान पर कोई दूसरा कार्य कराए और जिसमें गुण समझे वैसा करे, यह आचार्य के हाथ की बात है।

कोई मुनि अधिक गुणी होता है। आचार्य उससे गाथा नहीं लिखाए तो दूसरे मुनि को उससे ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए।

१४ मार्च
२००४

गण वृद्धि का पांचवां पद

संगठन और सुव्यवस्था के लिए जरूरी है मिलना।

आचार में शिथिलता न आए और विचार की एकता बनी रहे, इस चिंतन के आधार पर आचार्य को यह निर्देश दिया गया—

१. साधु-साध्वियों के सिंघाड़ों को चतुर्मास के बाद प्रायः दर्शन करने का निर्देश दिया जाए।

गण वृद्धि चाहो सुगणपति, चतुरमास उतरेह ।
बाहुल्य दरसण विन किये, विचरण आण म देह॥[१]

सुगणपति! यदि गण की वृद्धि चाहो तो चतुर्मास सम्पन्न करते ही दर्शन किए बिना इधर-उधर विचरण की आज्ञा मत देना।

१५ मार्च
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ५८, गणपति-सिखावण, गाथा १३

गण वृद्धि का छठा पद

कुछ साधु-साध्वियां आचार्य के साथ रहते हैं। कुछ साधु-साध्वियां आचार्य के आदेशानुसार पृथक् विहार करते हैं। जयाचार्य ने आचार्य भिक्षु के निर्देश को गणवृद्धि के रूप में प्रस्तुत किया और कहा—'यदि गण की वद्धि करना चाहते हो तो विशेष कारण के बिना साधु और साध्वी को एक गांव में रहने की आज्ञा मत देना।

गण वृद्धि चाहो सुगणपति, संत सती गुण गेह।
विण कारण इक ग्राम में, रहिवा आण म देह॥'[1]

सुगणपति! यदि गण की वृद्धि करना चाहो तो विशेष कारण के बिना साधु-साध्वियों को एक गांव में रहने की आज्ञा मत देना।

१६ मार्च
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ५८, गणपति-सिखावण, गाथा १४

गण वृद्धि का सातवां पद

साधु और साध्वी वैराग्य का जीवन जीते हैं। फिर भी परस्पर अधिक सम्पर्क से रागात्मक संबंध होने की संभावना हो सकती है। इस संभावना को ध्यान में रखकर जयाचार्य ने भावी आचार्य को शिक्षा दी—'साधु-साध्वियों को परिचय रूप सेवा की आज्ञा न दी जाए।'

गण वृद्धि चाहो सुगणपति, संत सती गुण गेह।
परिचय रूपज सेव नी, तूं आणा मत देह॥[1]

सुगणपति! यदि गण की वृद्धि करना चाहो तो साधु-साध्वियों को परस्पर परिचय रूप सेवा की आज्ञा मत देना।

१७ मार्च
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ५८, गणपति-सिखावण, गाथा १५

गण वृद्धि का आठवां पद

आचार्य का कर्तव्य है कि वह संघ की हर गतिविधि से परिचित रहे, हर गतिविधि के प्रति जागरूक रहे।

जागरूकता का हेतु है प्रत्यक्ष पृच्छा। जयाचार्य ने अपने उत्तराधिकारी मघवा को शिक्षा दी—'मर्यादा और व्यवस्था के प्रत्येक पक्ष पर पृच्छा करना, जानकारी प्राप्त करना।'

गण वृद्धि चाहो सुगणपति, चतुरमास उतरेह।
संत सती आवै तसु, पूछा सर्व करेह॥
चउमासो उतरियां आवै, मुनिवर अज्जा ज्यांरी रे।
तास हकीगत सर्व पूछणी, ए नीती निरधारी रे॥[1]

(पृच्छा की एक लंबी तालिका है गा. १९ से ४० तक)

सुगणपति! यदि गण की वृद्धि चाहो तो चातुर्मास सम्पन्न होने पर साधु-साध्वियां आते हैं उनकी सब प्रकार से पृच्छा करो।

चतुर्मास उतरने के बाद साधु-साध्वियां आते हैं, उनकी व्यौरैवार पृच्छा करना, यह नीति निर्धारित है।

१८ मार्च
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ५८, गणपति-सिखावण, गाथा १६,१७

गण वृद्धि का नौवां पद

तेरापंथ धर्मसंघ में ममत्व-विसर्जन के अनेक प्रयोग हुए हैं। जयाचार्य ने युवाचार्य मघवा को सीख देते समय ममत्व विसर्जन की व्याख्या की और उस दिशा में ध्यान आकृष्ट किया। साधु अथवा साध्वी के सिंघाड़े चातुर्मास के बाद दर्शन करते हैं, उस समय उनके ममत्व विसर्जन की व्याख्या की गई है।

चातुर्मास के समाप्त होने पर साधु-साध्वियों के सिंघाड़े आए तब आचार्य के दर्शन करने के बाद अग्रणी साधु-साध्वियां "'मत्थएण वंदामि' हाथ जोड़कर आपसे प्रार्थना है कि आपके चरणों में ये पुस्तकें और साधु (साध्वियां) प्रस्तुत हैं, मैं प्रस्तुत हूं, आप मुझे जहां रखें वहां रहने के भाव हैं"—इस प्रकार समर्पण किए बिना मुंह में आहार-पानी न डाले।

संत सती चउमासा पाछै, दरसण करै तिवारी।
पुस्तक पड़घे विण सूंप्यां तसु, च्यार आहार परिहारी॥[१]

साधु-साध्वियां चतुर्मास के बाद दर्शन करे तो पुस्तक पन्ने सौंपे बिना चतुर्विध आहार का परित्याग है।

१९ मार्च
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ५८, गणपति सिखावण, गाथा १८
२. मर्यादावली प्रकरण ११,२

विश्वास गुरु के प्रति

संगठन के लिए एक समस्या यह है—संघ से जिस साधु अथवा साध्वी को पृथक् कर दिया जाता है, उसे कुछ श्रावक प्रोत्साहन देते हैं और एक पृथक् संघ बनाने के प्रयत्न में लग जाते हैं।

आचार्य भिक्षु ने इस यथार्थ का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया और कहा—जो संघ से पृथक् हो गया, उसे संघ का साधु अथवा साध्वी न माना जाए। चार तीर्थ में उसकी गिनती न की जाए। जो संघ से पृथक् है उसकी प्रतीति मत करो। प्रतीति सद्गुरु की करो।

ज्यांनै टाळ दिया टोळा सूं दूरा, त्यां में अविनय रो ओगुण भारी।
त्यांरो टोळा में टिकणो अति दोरो, गुर रा नहीं आज्ञाकारी॥
सतगुर री परतीत ज राखो, जो तिरिया चावो भव पारो।
ज्यूं सुखे-सुखे सिवपुर में जाओ, तिहां वरतसी जे जे कारो॥[1]

जिनको गण से पृथक् कर दिया है उनमें अविनय का भारी अवगुण है। उनका गण में रहना भी अत्यधिक मुश्किल है। क्योंकि वे गुरु के आज्ञाकारी नहीं हैं।

यदि तुम संसार को पार करना चाहते हो तो सद्गुरु में विश्वास करो। सुखपूर्वक शिवपुर में जाओ, वहां जय-जयकार होगा।

२० मार्च
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ३०६, तेइसवीं हाजरी, गाथा २०,२१

मस्तिष्क प्रशिक्षण की प्रविधि (१)

जयाचार्य आचार्य भिक्षु कृत मर्यादाओं के व्याख्याकार, भाष्यकार, प्रयोगकार और प्रवचनकार थे। उन्होंने आचार्य भिक्षु द्वारा प्रदत्त मणि मुक्ताओं का गुंफन किया। इस प्रयत्न से उनका मूल्य बढ़ गया।

जयाचार्य ने २८ लघु प्रबंध तैयार किए, जो हाजरी के नाम से प्रसिद्ध थे। वे मस्तिष्कीय प्रशिक्षण के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुए।

जयाचार्य ने उन प्रबंधों की प्रस्तावना में जो लिखा है वह बहुत मननीय है।

'सं. १९१० पोस बदि ९' वार शनेश्चर बड़ी रावलिया में ऋषि जीतमल गण विशुद्धिकरण हाजरी नी स्थापना कीधी। तेहनी विध–सर्व साधु ' बड़ा लहुड़ाइ' सूं मुख आगलि पंक्तिबंध उभा राखी नै आचांर्य एतला वचन त्यां साधु हाथ जोड़ उभा त्यांनै ते लिखीयइं छइं।'

श्री वीर वर्द्धमान शासण में सं. १८१७ भीखणजी स्वामी सिद्धांत देखी सूत्र प्रमाणै श्रद्धा आचार प्रगट कीयो। नवी दीक्षा लीधी। परंपरा रीत मर्याद अनेक प्रकारे बांधी।[1]

सं. १९१० पौष कृष्णा नवमी, वार शनिवार को बड़ी

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. १८२, पहली बड़ी हाजरी का अंश

रावलियां में ऋषि जीतमल ने गण विशुद्धिकरण के लिए हाजरी बनाई। उसकी विधि—सभी साधुओं को दीक्षा के क्रम से गुरु के सामने पंक्तिबद्धं खड़े कर आचार्य इतने वचन उनके सामने कहे—वे लिखे जा रहे हैं।

श्री वीर वर्धमान शासन में सं. १८१७ में भीखणजी स्वामी ने सिद्धांत देखकर सूत्र के अनुसार श्रद्धा और आचार प्रकट किया। नई दीक्षा ली। अनेक प्रकार से परम्परा, रीत और मर्यादा का प्रबंधन किया।

<u>२१ मार्च</u>
२००४

मस्तिष्क प्रशिक्षण की प्रविधि (२)

जयाचार्य ने पहली हाजरी में सं. १८३२ के लेख की कुछ धाराओं का विश्लेषण किया है और उसमें आगम के संदर्भ भी जोड़े हैं।

सं. १८३२ के लिखत की एक धारा है—

'गण बारै नीकळे अपछंदो ह्वै, तिण री बात अवगुण बोलै तिका मानणी नहीं।'

जयाचार्य ने इसके विश्लेषण में लिखा—**'शासण री बात गुणोत्कीर्तन रूप करणी। अने गुणोत्कीर्तन रूप वार्ता सांभळणी। उतरती बात न करणी। अनै उतरती बात मन सहित न सांभलणी। कोई शब्द कान में पड़ै ते गुरां नै कही देणो।**

उतरती बात कहै, सुणै तथा सुणी नै न कहै ते इण भव में च्यार तीर्थ में हेलवा जोग।[1]

गण से पृथक होकर स्वच्छंद होता है, उसकी बात जो अवगुणात्मक है, कोई नहीं मानें।

शासन की गुणोत्कीर्तन रूप बात करे और गुणोत्कीर्तन रूप बात सुने। उतरती बात न करे और उतरती बात मन लगाकर न सुने। कोई शब्द कान में पड़े तो गुरु को कह दे।

उतरती बात कहे, सुने तथा सुनकर गुरु को न कहे तो वह इस संसार में, चार तीर्थ में अवहेलना योग्य है।

२२ मार्च
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. १८२, पहली बड़ी हाजरी का अंश

मस्तिष्क प्रशिक्षण की प्रविधि (३)

जयाचार्य ने जिलाबंदी (गुटबंदी) का आचार्य भिक्षु के द्वारा लिखित ग्रंथों के आधार पर विस्तृत वर्णन किया है। उसका संक्षिप्त सार इस प्रकार है–

मांहो मांही जिलो बांधणो पिण अनेक लिखत जोड़ में बरज्यो छै।

सैंतीसा रा वर्ष रास जोड़्यो। तिण में जिलो बांधणो घणो निषेध्यो छै।

तथा 'गुरु सूकावै तो उभो सूकूं' इण में पिण जिलो बांधणो वरज्यो छै।

किण ही नै गुरां री आज्ञा विना आपरो रागी करणो वरज्यो छै।

तथा पैंतालीसा रा लिखित में पिण एहवो कह्यो–'साधां रा मन भांग नै आप-आप रै जिलै करे ते तो महा भारीकर्मो जाणवो, विसवासघाती जाणवो, इसड़ी 'घात-पावडी' करै ते तो अनंत संसार री सांइ छै।'[1]

परस्पर दलबंदी करने की अनेक लिखतों में और जोड़ में वर्जना की है।

स. १८३६ में रास की रचना की। उसमें दलबंदी करने का बहुत निषेध किया गया है।

वैसे ही 'गुरु सुखाए तो खड़ी-खड़ी सूखे' इसमें भी दलबंदी

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. १८३-१८४, पहली बड़ी हाजरी का अंश

की वर्जना की है।

किसी को भी गुरु की आज्ञा बिना अपना रागी बनाने की वर्जना की है।

१९४५ के लिखत में भी ऐसा कहा है—साधुओं का मन भेद कर अपना-अपना दल बनाता है तो उसे महान भारी कर्म वाला जाने, विश्वासघाती जाने, ऐसा छल कपट करता है, वह तो अनंत संसार की निशानी है।

२३ मार्च
२००४

मस्तिष्क प्रशिक्षण की प्रविधि (४)

आचार्य भिक्षु ने अनुभव किया कि परस्पर सौहार्द की कमी और कलह की वृद्धि का एक कारण है—दोषों को चुन-चुन कर इकट्ठा करना और लंबे समय के बाद उन्हें प्रकट करना।

जयाचार्य ने प्रथम हाजरी में अपने अभिमत की पुष्टि के लिए आचार्य भिक्षु द्वारा रचित ढाल को भी उद्धृत किया है।

साध-साधवी सगळां भणी, चालणो इण मरजाद।
दोष देखै तो तुरत बतावणो, ज्यूं वधै नहीं विषवाद॥
औरां में दोष बतावै, घणा दिनां पछै, तिण री मूल न मानणी बात।
आ बांधी मर्यादा सर्व साध नीं, ते लोपणी नहीं तिल मात॥
इसडा अजोग नै अळगो किया, जब ओ काढै दोष अनेक।
बले ओगुण बोलै अति घणां, तिण री बात न मानणी एक॥[1]

सभी साधु साध्वियों को इस मर्यादा के अनुसार चलना है। दोष देखे तो तुरंत बता दे, जिससे विसंवाद न बढ़े।

बहुत दिनों के बाद दूसरों के दोष बताता है तो उसकी कोई भी बात नहीं माननी चाहिए। यह मर्यादा सब साधुओं के लिए है। इसका किञ्चित मात्र भी लोप न किया जाए।

ऐसे अयोग्य साधु-साध्वी को गण से पृथक् किया जाए तो वह गण में अनेक दोष बतलाता है और बहुत अवगुण बोलता है, उसकी एक भी बात नहीं मानी जाए।

२४ मार्च
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. १८३-१८४, दोहा ४,६,८

मस्तिष्क प्रशिक्षण की प्रविधि (५)

आचार्य भिक्षु ने साधु और श्रावक के संबंधों पर भी काफी चिंतन किया। श्रावक साधु के जीवन में सहयोगी बने और जागरूक रहे, किन्तु किसी साधु में दोष देखकर उसे प्रसारित करने का कार्य न करे।

दोष जो उ लागो देखै किण ही साध में,तो कह देणो तिण नै एकंतो रे।
जो उ मानै नहीं तो कहिणो गुरु कनै, ते श्रावक छै बुधिवंतो रे।।
प्राछित दराय नै सुध करै, पिण न कहै ओरां पास।
ते तो श्रावक गिरवा गंभीर छै, त्यानें वीर बखाण्यां तास।।
दोष रा धणी ने तो कहै नहीं, उणरा गुरु नै पिण न कहै जाय।
और लोकां आगे बकतो फिरै, तिणरी परतीत किण विध आय।।[१]

किसी साधु में दोष देखे तो उसे एकांत में कहता है। यदि वह नहीं मानें तो गुरु को कहता है। वह श्रावक बुद्धिमान है।

दोष सेवन करने वाले को प्रायश्चित्त दिलाकर शुद्ध करता है किन्तु दूसरों को नहीं कहता, वह श्रावक गहरा है, गंभीर है। भगवान महावीर ने उसकी प्रशंसा की है।

दोष के धनी को नहीं कहता, उसके गुरु को भी नहीं कहता, दूसरे लोगों के सामने बकवास करता फिरता है, उसकी प्रतीति कैसे की जाए?

२५ मार्च
२००४

---

१. विनीत अविनीत की चौपई ढाल ७, गाथा ११,१२,१३

मस्तिष्क प्रशिक्षण की प्रविधि (६)

आचार्य भिक्षु ने नकारात्मक प्रवृत्ति का निषेध किया। एक विषय का अनेक ग्रंथों में निषेध किया। इससे निष्कर्ष निकलता है कि वे निषेधात्मक प्रवृत्ति की वर्जना के लिए बहुत सावधान थे।

जयाचार्य ने तीसरी हाजरी में दोष-विषयक विधान को अनेक ग्रंथों के साक्ष्य से उद्धृत किया है।

'किण ही साध आर्य्यां में दोष देखै तो ततकाल धणी नै कहिणो, अथवा गुरां ने कहिणो, पिण औरां नै न कहिणो।'

इमहिज बावनां रा लिखत में कह्यो–तथा इमहिज वनीत अवनीत री चोपी में कह्यो। तथा बले साध सिखावणी ढाल में तथा रास में तथा पचासा रा लिखत में घणा दिन आड़ा घालने दोष बतावै तिण नै निषेध्यो छै।[1]

किसी साधु और साध्वी में दोष देखे तो तत्काल 'धणी' (दोष का सेवन करने वाले) को अथवा गुरु को कहे, किन्तु दूसरों को न कहे।

इस प्रकार सं. १८५२ के लिखत, विनीत अविनीत की चौपई, साध सिखावण ढाल, रास और सं. १८५० के लिखत में बहुत दिन का अंतराल देकर दोष बताने का निषेध किया है।

२६ मार्च
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. २०१, तीजी हाजरी का अंश

मस्तिष्क प्रशिक्षण की प्रविधि (७)

जयाचार्य ने 'गत दिवस वार्ता' की व्याख्या की। इसके द्वारा बीते कल के दिन में जो कुछ हुआ उसकी जानकारी आचार्य को हो जाए और अकरणीय अथवा कल्पनीय कार्य का प्रायश्चित्त भी हो जाए।

'आचार्य गतदिवसवार्ता सर्व साध साधवियां नै पूछै—कोई कषाय रे वश शब्द बोल्यो तथा हास्य रे वश बोल्यो तथा उतरतो शब्द बोल्यो ए सर्व जाण अजाण शब्द बोल्यो तथा सुण्यो ते सर्व कहणो।

तथा मार्ग चालतां, पडिलेहण करतां, और ही अनेक गणी पूछै तो जथातथ अरज करणी। आचार गोचर में सावचेत रहिणो। भीखणजी स्वामी रा लिखत ऊपर दृष्ट तीखी राखणी।'[१]

आचार्य 'गत दिवस वार्ता' सब साधु-साध्वियों को पूछते हैं—किसी साधु ने कषाय के वशीभूत होकर, हास्य के वशीभूत होकर कहा तथा अवज्ञा का शब्द कहा, यह सब जानते हुए, न जानते हुए कुछ कहा तथा सुना हो तो वह सब गुरु को बता दे।

मार्ग चलते, प्रतिलेखन करते, और भी अनेक बातें जो आचार्य पूछे तो जैसे हो वैसी निवेदन करें। आचार-गोचर में सावधान् रहे। भिक्षु स्वामी के लिखत पर पैनी दृष्टि रखे।

२७ मार्च
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. २०३, तीजी हाजरी का अंश

मस्तिष्क प्रशिक्षण की प्रविधि (८)

आचार्य भिक्षु ने एकल विहार के विषय में व्यवस्था दी—वर्तमान में श्रुत और मनोबल की इतनी अर्हता नहीं है कि मुनि अकेला रह कर, स्वच्छन्द रहकर चारित्र की सम्यक् आराधना कर सके। इसलिए उन्होंने एकल विहार को अयोग्य ठहराया। तीसरी हाजरी का एक अनुच्छेद पठनीय है।

'कर्म जोगे टोला थी टले अथवा कठणाई में चालणी नहीं आवै, आहारादिक रो लोलपी घणो अथवा चोकड़ी रे वस थइ आग्या पालणी आपरो छांदो रुधंणो ए दोरो जद वक्र बुद्धि होय गण बारै नीकलै, अवगुणवाद घणा बोलै, पेट भराई वास्ते अनेक ऊंधी-ऊंधी परूपणा करै, लोकां नै बहकावा नै अजोग-अजोग निंद्या करै, केइ बेपत्ता अकल विनां एकला लाज छोड़ी फिरता फिरै तिणने श्री भीखणजी स्वामी एकल रा चोढ़ाल्या में निखेद्यो छै।'[१]

कर्म योग के कारण गण से अलग होता है अथवा कठिनाई में चल नहीं सकता, आहार आदि का अधिक लोलुप है, अथवा कषाय की चौकड़ी के वशीभूत होकर आज्ञा का पालन करना और अपनी स्वच्छन्दता को रोकना दुष्कर हो उस स्थिति में वक्र बुद्धि होकर गण से पृथक् होता है, बहुत अवगुण बोलता है। उदर-पूर्ति

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. २०३, तीसरी हाजरी का अंश

के लिए अनेक विपरीत प्ररूपणाएं करता है। लोगों को भ्रांत करने के लिए अयोग्य-अयोग्य निंदा करता है। कोई अविश्वसनीय सोचे समझे बिना निर्लज्ज होकर अकेला घूमता है। ऐसे अकेलेपन का आचार्य भिक्षु ने **'एकल रा चोढालिया'** में निषेध किया है।

२८ मार्च
२००४

अविनीत का लक्षण (१)

जयाचार्य ने हाजरी में आचार्य भिक्षु कृत शिक्षापदों का समीचीन संकलन किया है।

कुछ साधु आचार्य द्वारा अनुशासन किए जाने पर उसको सम्यक् ग्रहण नहीं कर पाते। उनका व्यवहार विपरीत होता है।

तिणनै गुर कहै सहिज में सूधो, तो उ पड़ जाए मूरख ऊंधो।
तिण रा लखण घणा छै माठा, उलटा गुरनै कहै करड़ा काठा॥
गुरु ने करड़ो काठो कहिणो पाछो, ओ तो किरतब जांणियो आछो।
तिणरी फिर गई सवली दिष्ट, हुओ जिण मार्ग थी भिष्ट॥
तिणने गुर करड़ा कहै किण वारै, जब उ अवनीत पास पुकारै।
जब अवनीत कहै उण नै एम, थे क्यूं पाछो कह्यो नहीं केम॥[१]

गुरु सहज रूप से सही बात कहते हैं तो अविनीत साधु उसे विपरीत ग्रहण करता है। उसके लक्षण बहुत ही निकृष्ट हैं। वह गुरु को भी कठोर वचन कहता है।

पुनः गुरु को कठोर वचन कहता है—ऐसा करना उसने अच्छा मान रखा है। उसकी सही दृष्टि विपरीत हो गई है और वह जिन मार्ग से भ्रष्ट हो गया है।

उसे गुरु किसी समय कठोर वचन कहते हैं तो वह अविनीत के पास जाकर पुकार करता है। उस समय दूसरा अविनीत उसे कहता है कि तूने वापिस क्यों नहीं कहा—उत्तर क्यों नहीं दिया।

२९ मार्च
२००४

१. अविनीत रास, ढाल १ गाथा १०६ से १०८

अविनीत का लक्षण (२)

सर्प दो प्रकार के होते हैं—सगुरा और नगुरा। नगुरा सर्प नियंत्रणहीन होता है। वह उपकारी के प्रति भी कृतज्ञ नहीं होता। आचार्य भिक्षु ने अविनीत की तुलना नगुरा सांप से की है।

कोई सांप पड्यौ थौ उजाड़ में, चेत नहीं सुध कायो रे।
तिण सर्प री अणुकंपा आंण नै, मिश्री घाले नै दूध पायो रे॥
ते सर्प सचेत थयां पछै, आडौ फिरियौ खावा नै आयौ रे।
जो उ लूंठौ हुवै तो उणनें दाब दै; काचौ हुवै तो डंक दै लगायौ रे॥
सर्प सारिखो अविनीत कोई मानवी,एकल फिरै ज्यूं ढोर रुळीयारो रे।
त्यांनै समकित चारित पमाड़ नै, कीधौ मोटो अणगारो रे॥
एहवौ उपगार कीयौ तिको, ततकाल भूलै अविनीतो रे।
वले उळटा अवगुण बोलै तेहनां, उणरै सर्प वाली रीतो रे॥
आहार पाणी कपड़ादिक कारणै, ते पिण झूठो झगड़ो मांडै रे।
इणनै उपरलौ हुवै तौ दाबै दंड दे, आघौ काढै तै उळटो भांडै रे॥[1]

कोई सर्प जंगल में पड़ा था। वह सचेत नहीं था। किसी ने उस सर्प पर अनुकम्पा कर मिश्री मिलाकर दूध पिलाया।

वह सर्प सचेत होने के बाद उस आदमी को डसने के लिए उसके सामने आता है। अगर वह समर्थ होता है तो उसे दबा देता है और कमजोर होता है तो सर्प उसे काट खाता है।

---

१. विनीत अविनीत री चौपई : ढाल ७/१६ से २०

सर्प जैसा अविनीत मनुष्य पशु की तरह अकेला घूमता रहता था। उसे सम्यक्त्व व चारित्र की प्राप्ति कराकर गुरु ने उसे साधु बनाया।

इतना उपकार करने पर अविनीत साधु तत्काल भूल जाता है, प्रत्युत अवगुण बोलता है। उसका व्यवहार नगुरा सांप जैसा होता है।

आहार, पानी और कपड़े आदि के लिए भी झूठा झगड़ा करता है। यदि गुरु शक्तिशाली होता है तो उसे दबा देता है और यदि अविनीत की उपेक्षा की जाए तो वह विपरीत होकर अवमानना शुरू कर देता है।

३० मार्च
२००४

अविनीत-चरित्र (१)

जिस अविनीत साधु को संघ में रहने की आशा नहीं रहती, वह छिपे-छिपे लोगों के सामने दोहरी बात करता है। उसका सारा व्यवहार दोहरा हो जाता है। आचार्य भिक्षु ने उसकी तुलना 'थावरिया डाकोत' से की है।

टोला मांहै रहिवा री आसा नहीं, क्रोधी अवनीत जाणै एम।
तिण सूं छानै लोकां कनै, बोले थावरिया जेम॥
गर्भवती नै कहै डाकोतरो, थारे होसी पुत्र अनूप।
पाड़ोसण नै कहै होसी डीकरी, ते पिण अतंत कुरूप॥
गुर भगता श्रावक श्रावकां कनै, गुर रा गुण बोलै ताम।
आप रै वस हुवो जाणैं तिण कनै, अवगुण बोलै तिण ठांम॥[1]

जो क्रोधी और अविनीत है उसे लगता है कि गण में रहना संभव नहीं है, तब वह छिपे-छिपे लोगों के सामने थावरिये डाकोत की भांति बोलने लगता है।

डाकोत गर्भवती स्त्री से कहता है कि तेरे अनुपम पुत्र होगा। उसकी पड़ोसिन से कहता है कि उसके लड़की होगी और वह भी अत्यंत कुरूप।

इसी तरह अविनीत गुरु-भक्त श्रावक-श्राविकाओं के बीच गुरु का गुणानुवाद करता है। जिसे अपने वश में हुआ जानता है, उसके सामने गुरु का अवर्णवाद करता है।

३१ मार्च
२००३

१. विनीत अविनीत री चौपई, ढाल २, दुहा १ से ३

अविनीत चरित्र (२)

आचार्य भिक्षु की दृष्टि में अविनीत से अविनीत का योग संगठन के लिए हितकर नहीं है। बड़ा अविनीत छोटे अविनीत को कुमति देता है। उससे खोटी सीख देने वाले और उसे ग्रहण करने वाले दोनों की हानि होती है। उसका उदाहरण है 'बुटकना गधा और बैल।'

अविनीत नै अविनीत मिल्या, अविनीतपणो सीखावे।
पछै बुटकनां नै बलद ज्यूं , दोनूं जणा दुःख पावै॥[१]

अविनीत को अविनीत मिलता है तो वह उसे अविनय की शिक्षा देता है फिर बुटकने गधे और बैल की भांति वे दोनों दुःखी होते हैं।

१ अप्रैल
२००४

१. विनीत अविनीत की चौपई २.१५

अविनीत चरित्र (३)

आचार्य भिक्षु की दृष्टि में विनीत और अविनीत का साथ में रहना भी अच्छा नहीं है।

अविनीत विनीत से बोध-पाठ नहीं लेता किन्तु कभी कभी ऐसा होता है कि विनीत अविनीत की कुबुद्धि के चक्र में फंस जाता है।

बांध्यो काला पाखती गोरिया,वर्ण न आवै पिण लखण आवै।
ज्यूं विनीत अविनीत कनें रहे, तो उ कांयक कुबधि सीखावै।।[1]

काले बैल के पास गोरे बैल को बांधने पर रंग नहीं बदलता पर लक्षण आ जाते हैं—बाहर की कालिमा नहीं आती पर भीतर की कालिमा आ जाती है। इस प्रकार विनीत अविनीत के पास रहता है तो अविनीत उसे कुछ न कुछ सिखा देता है।

२ अप्रैल
२००४

१. विनीत अविनीत की चौपई २.२४

अविनीत चरित्र (४)

कोई शिष्य गुरुभक्त, सुविनीत और गुरु के इङ्गित के अनुसार चलने वाला होता है। उस पर गुरु का अनुग्रह हो, यह स्वाभाविक है। इस स्थिति में अविनीत शिष्य गुरु के अवगुणों की खोज करता है। ऐसे साधु की मनोवृत्ति का आचार्य भिक्षु ने मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है।

विनीत ऊपर घणौ हेत हुवै गुर तणो,
तो अविनीत नै दुःख हुवै साख्यात।
जब अवगुण सूझै अणहूंताइ गुर तणां,
बलै वांछै विनीत री घात॥
अविनीत जांणे विनीत मूआं थकां,
पछे म्हांरोईज हुसी आग।
एहवा परिणामां घात वांछै सुविनीत री,
तिण लीधो कुगति रो माग॥
बलै ओषध भेषज आहार पाणी तणी,
उ जांणे नै पाड़ै अंतराय।
दुःख नै असाता वांछै सुवनीत री,
अविनीत नै ओळखो इण न्याय॥
गुर भगता उपर धेष अविनीत रो,
बलै ईसको ने खेदो अतंत।
उण रा छिद्र जोवै उतारण आसता,
तिण रा चरित जांणे मतवंत॥

बलै करै वनीत सूं मूढ़ बरोबरी,
पिण विनों कियो मूळ न जाय।
बलै अवगुण न सूझै अविनीत नै आपरा,
तिण सूं दिन-दिन दुखियौ थाय॥[1]

विनीत साधु पर गुरु का अत्यधिक स्नेह है तो अविनीत को साक्षात् दुःख होता है, तब वह गुरु के अवगुणों को देखता रहता है और विनीत के घात की इच्छा करता है।

अविनीत समझता है कि विनीत के मर जाने के बाद मेरी ही प्रमुखता होगी, ऐसे भावों से विनीत शिष्य के घात की इच्छा करता है। उसने कुगति का मार्ग स्वीकार कर लिया है।

पुनः वह जान-बूझ कर औषध-भैषज तथा आहार-पानी आदि की अंतराय डालता है। सुविनीत साधु के दुःख और असाता की वाञ्छा करता है। इस प्रकार अविनीत साधु को पहचानो।

जो शिष्य गुरु भक्त होता है उस पर द्वेष रखता है, उससे ईर्ष्या करता है। उसके पीछे पड़ा रहता है। जनता में उसकी आस्था को कम करने के लिए उसके छिद्र देखता है। ऐसे अविनीत के चरित्र को बुद्धिमान जान लेते हैं।

वह हर बात में विनीत की बराबरी करता है किंतु मूल बात है कि उससे विनय नहीं किया जाता। अविनीत अपने अवगुण नहीं देखता इसलिए दिन-प्रतिदिन दुःखी होता है।

३ अप्रैल
२००४

१. विनीत अविनीत की चौपाई, ढा.३, गा.३२ से ३४,४०,४१

अविनीत का व्यवहार (१)

अविनय के अनेक रूप हैं और उनके कारण भी अनेक हैं। किसी साधु की प्रकृति अभिमान प्रधान होती है। उसके प्रत्येक व्यवहार में अभिमान झलकता है। आचार्य भिक्षु ने उसके व्यवहार की पहचान का विशद वर्णन किया है।

उ गुर रा पिण गुण सुणनै विलखो हुवै रे,
ओगुण सुणे तो हरषत थाय रे।
एहवा अभिमानी अविनीत तेहनै रे,
ओलखांउ भवियण नै इण न्याय रे॥[१]

अविनीत शिष्य गुरु के गुण सुनकर उदास होता है और अवगुण सुनकर हर्षित होता है, भव्य जीवों को ऐसे अभिमानी अविनीत की न्यायानुसार पहचान करा रहा हूं।

४ अप्रैल
२००४

---

१. विनीत अविनीत की चौपई १/२५

अविनीत का व्यवहार (२)

विनीत के व्यवहार की भांति अविनीत के व्यवहार का भी सूक्ष्म निरूपण किया है।

अविनीत की गति विनीत की विपरीत दिशा में होती है।

वह जैसे-जैसे अध्ययन करता है वैसे-वैसे उसकी उच्छृंखलता बढ़ती जाती है। वह गुरु के सामने भी अभिमान का प्रदर्शन करता है। वह अविनीत को कान के पास लगाए रखता है। भूल होने पर गुरु सीख देते हैं तो रुष्ट हो जाता है।

दूजा वनीत री ऊंधी रीत, जो घणो भणे ज्यूं घणो अवनीत।
गुर सूं पिण यो करे अभिमान, ओर अवनीत ने लगावे कान॥
तिण नै गुरु सीख देवे चूको देख, तो तुरत जागे अवनीत ने धेख।
घणो छेड़वे तो करे बिगाड़, क्रोध करे ने होय जाअै न्यार॥
बले दूजो अविनीत हुवै टोळा मांय, तिण ने पिण देवे भरमाय।
गुर सूं मन भांगे कूड़ी कर-कर बात,तिण अवनीत ने ले जावे साथ॥[1]

अविनीत की गति विनीत के विपरीत होती है। जैसे-जैसे अध्ययन करता है वैसे-वैसे उसकी उच्छृंखलता बढ़ती जाती है। वह गुरु के सामने भी अभिमान का प्रदर्शन करता है। वह अविनीत को कान के पास लगाए रखता है।

---

१. सांमधर्मी सांमद्रोही री ढाल, गाथा २५ से २७

अविनीत को उसकी भूल देखकर गुरु सीख देते हैं तो वह तुरंत क्रुद्ध हो जाता है। ज्यादा छेड़ने पर वह गलत कार्य करता है, क्रोध करके गण से पृथक् हो जाता है।

दूसरा अविनीत यदि गण में हो तो उसे भी भरमा देता है। उसके साथ झूठी बात करके गुरु से मन भेद करके उस अविनीत को अपने साथ ले जाता है।

५ अप्रैल
२००४

अविनीत का व्यवहार (३)

अविनीत साधु का गुरु के प्रति भी समीचीन व्यवहार नहीं होता। यदि गुरु उसे संघ से पृथक् कर देते हैं तो वह विसंवाद बढ़ाता है। उसके चरित्र का आचार्य भिक्षु ने विस्तार से निरूपण किया है।

ते तो गुर सूं पिण नहीं गुदरे,त्यां रा कारज किण विध सुधरे।
तिण नै करे टोळा सूं न्यारो, तो उ चोर ज्यूं करै बिगाड़ो॥
सगळा साधा नै कहे असाध, बले करे घणो विषवाद।
सर्व साधां रो होय जाय वैरी, केइ एहवा छै अवनीत गेरी॥
तिणनै लोक आरै करै नाहीं, तो उं प्राछित ले आवै मांही।
ज्यांने असाध परूप्या मुख सूं, त्यां रा वांदे पग मस्तक सूं॥
जो उ बले न चाळै सूधो, तो उण नै बलै करदे गुर जूदो।
जब अवनीत रै उवाहीज रीत, न्यारो कियां बोले विपरीत॥[1]

जो गुरु का अपमान करने में भी संकोच नहीं करता, उसका कार्य कैसे सिद्ध हो। उसे यदि गण से अलग करते हैं तो वह चोर की भांति बिगाड़ करता है।

वह सब साधुओं को असाधु कहता है और बहुत अधिक विसंवाद करता है। सब साधुओं का वह दुश्मन बन जाता है। कुछ ऐसे अविनीत विरोधी विचार वाले होते हैं।

---

१. विनीत अविनीत की चौपई, ढाल ९, गाथा २६ से २९

यदि लोग उसे स्वीकार नहीं करते हैं तो वह प्रायश्चित्त लेकर पुनः गण में आता है। जिनको अपने मुख से असाधु प्ररूपित किया था उन्हीं के पैरों में सिर झुकाकर वंदना करता है।

पुनः यदि वह ढंग से नहीं चलता है तो गुरु उसे गण से पृथक् कर देते हैं। अविनीत के तो यही रीत है, पृथक् करने पर वह विपरीत बोलने लग जाता है।

६ अप्रैल
२००४

अविनय-जनित व्यवहार (१)

आचार्य भिक्षु ने अविनय की वृत्ति से उपजने वाले व्यवहारों का सूक्ष्म दृष्टि से विश्लेषण किया है।

अविनीत शिष्य गुरु की आज्ञा का सम्यक् पालन नहीं करते। वे सोचते हैं—मैं गुरु के निकट बैठूंगा तो गुरु मुझसे कार्य कराएंगे।

यदि वह गुरु का कोई काम करता है तो उसे 'बेगार' समझता है।

केइ गुर री नहीं पालै मूर्ख आगनां,
समीपै रहता संके मन मांय।
रखे करावै कारज मो कनै,
एहवौ बूडण रो करै उपाय।।
जो कार्य करै अवनीत गुर तणौ रे,
तो जांणै अग्यांनी बैठ समान।
तिण धर्म जिणेसर नौ नहीं ओलख्यो,
चिहुं गति मैं होसी घणो हैरान।।[1]

कुछ अविनीत शिष्य गुरु की आज्ञा का पालन नहीं करते। उनके मन में शंका रहती है—गुरु के समीप रहूंगा तो गुरु मुझसे कार्य कराएंगे।

यदि अविनीत गुरु का कोई काम करता है तो उसे वह अज्ञानी बेगार मानता है।

७ अप्रैल
२००४

१. विनीत अविनीत री चोपई, ढाल १.५,७

अविनय-जनित व्यवहार (२)

आचार्य भिक्षु ने अविनीत के चरित्र का मन को छूने वाला मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है।

अविनीत आचार्य के प्रति अनास्था पैदा करने के लिए अकल्पनीय व्यवहार करता है।

किणनै कहै थां उपर धेख, ते अरु बरु ल्यो देख।
किणनै कहै थांरी कीधी उतरती, मो आगै पिण कीधी परती॥
किणनै बलै कहै छै आंम, थंानै लोळपी कहै छै तांम।
किणनै कहै थांनै कहिता वेणो, इण नै महीं कपड़ो नहीं देणो॥
किणनै कहै थे प्राछित लीधो, ते तो मो आगै कह दीधो।
थारी आसता एम उतारे, बले निंद्या करै पूठ लारे॥
किणनै कहै थंानै कहता चोरो, किणनै कहै थांसू हेत थोरो।
किणनै कहै थंानै कहिता अवनीत,किणनै कहै थंारी करे अप्रतीत॥[1]

किसी को कहता है—गुरु तुम्हारे पर द्वेष करते हैं, तुम इसे साक्षात् देख लो। किसी को कहता है कि मेरे सामने उतरती और हल्की बात की।

किसी को कहता है कि गुरु तुम्हें लोलुपी बता रहे हैं। किसी को कहता है कि उसको महीन कपड़ा नहीं देना है।

किसी को कहता है गुरु से तुमने प्रायश्चित्त लिया, गुरु ने वह

---

१. अवनीत रास, ढाल १ गाथा ११२ से ११५

मुझे बता दिया। इस प्रकार वह साधुओं में गुरु के प्रति अनास्था पैदा करता है और पीठ पीछे निंदा करता है।

किसी को कहता है कि गुरु तुम्हें चोर कहते हैं। किसी को कहता है कि तुम्हारे पर स्नेह कम है। किसी को कहता है कि तुम्हें अविनीत कहते हैं। किसी को कहता है कि तुम्हारे पर अविश्वास करते हैं।

८ अप्रैल
२००३

अविनय-जनित व्यवहार (३)

कुछ साधु दूसरे साधुओं को अपने पक्ष में करने के लिए अवांछनीय व्यवहार करते थे। एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से दूर करने का सर्वोत्तम उपाय है संदेह।

गुरु के प्रति शिष्य का विश्वास होता है, यह एक सामान्य बात है। उस विश्वास को तोड़ने के लिए संदेहोत्पादक बातें कही जाती हैं।

किणनै कहे थांनै नहीं भणावै,किणनै कहै थांनै नहीं बतलावै।
किणनै कहै थांनै रोगी जाणै, पिण औषध कदेय न आणै॥
किणनै कहै थांनै चौमासे काल, लांबो खेतर बतावै टाळ।
आछै खेतर थांनै नहीं मेलै, सेषें काळ पिण इमहीज ठेलै।
किणनै कहै थांरो न करै वेसास,मांहै रहिवा री न धरै आस।
जिण विध गुरु सूं जागे धेष, तेहवी करै बात विशेष॥
जिण विध गुरु सूं मन भांगै, तेहवी बात करै उण आगै।
जिण विध गुरु सूं हेत टूटै, तेहवी बात करे पर-पूठै॥
इण विध साध-साधवी फाड़े, गण में भेद इण विध पाड़ै।
गुरु सूं परिणाम उतारै, सुध साधां नै मूढ बिगारै॥[1]

किसी को कहता है कि तुमको पढ़ाते नहीं हैं। किसी को कहता है कि तुमको बतलाते नहीं हैं। किसी को कहता है—यह जानते हैं

---

१. अवनीत रास, ढाल १, गाथा ११६ से १२०

कि तुम रोगी हो फिर भी औषध लाकर नहीं देते।

किसी को कहता है कि तुम्हें चुन कर चतुर्मास के लिए दूरवर्ती क्षेत्र बताते हैं, अच्छे क्षेत्र में तुमको नहीं भेजते हैं और शेष काल में भी साधारण क्षेत्रों में ही भेजते हैं।

किसी को कहता है कि तुम्हारे परं विश्वास नहीं करते और यह भी मानते हैं कि तुम गण में नहीं रहोगे। जिस प्रकार गुरु के प्रति द्वेष पैदा हो वैसी ही विशेष रूप से बात करता है।

जिस प्रकार गुरु से मन भेद होता है उसके सामने वैसी ही बात करता है। जिस प्रकार गुरु से प्रेम टूटे वैसी पीठ पीछे बात करता है।

इस प्रकार वह साधु-साध्वियों में फंट कराता है। इस प्रकार गण में भेद का वातावरण बनाता है, गुरु के प्रति आस्था कम करता है। वह मूढ़ शुद्ध साधुओं को बिगाड़ता है।

९ अप्रैल
२००४

अविनय-जनित व्यवहार (४)

विनयविहीन मुनि का दृष्टिकोण भी सही नहीं होता। वह तपस्या करता है। उसका उद्देश्य भी पवित्र नहीं होता। आचार्य भिक्षु के शब्दों में तपस्या करना आसान है, विनय करना आसान नहीं है।

जो तप कर काया कष्टै आपणी,
जस कीरति कै खावा ध्यांन।
के पूजा सलाघा रो भूखौ थकौ,
पिण विनौ करणौ नहीं आसान॥
जो धरावै गृहस्थ नै बोल थोकड़ा,
ते पिण मान-बड़ाई काज।
उ आपौ प्रसंसे अवर ने निंदतौ,
ते अवनीत निरलज नांणै लाज॥[1]

अविनीत यश-कीर्ति के लिए, खाने के लिए या पूजा श्लाघा की भूख से तप कर शरीर को कष्ट दे सकता है, पर विनय करना उसके लिए आसान नहीं है।

वह अविनीत गृहस्थ को बोल-थोकड़ों की अवधारणा भी मान-बड़प्पन की आशंसा से कराता है। उसे अपनी प्रशंसा और दूसरों की निंदा करते लज्जा का अनुभव नहीं होता।

१० अप्रैल
२००४

१. विनीत अविनीत री चौपई, ढाल १. ८,९

अविनय-जनित व्यवहार (५)

अविनीत व्यक्ति आत्म-नियंत्रण नहीं कर सकता। क्रोध और अहंकार—ये दोनों अविनीत के साथी हैं। इसलिए गुरु की आज्ञा का पालन करना उसके लिए कठिन होता है।

अविनीत का मन अस्थिर रहता है। वह अनेक कल्पनाओं का जाल बुनता रहता है।

अविनीत नै आपो दमवो दोहिलौ,
तिण रा अथिर परिणाम रहै सदीव।
उ किण विध पालै गुर री आगनां,
जे क्रोधी अहंकारी दुष्टी जीव॥[1]

अविनीत के लिए स्वयं पर नियंत्रण करना कठिन होता है। उसके परिणाम सदा अस्थिर रहते हैं। जो क्रोधी, अहंकारी और दोष मग्न जीव होते हैं वे गुरु आज्ञा का पालन कैसे कर सकते हैं?

११ अप्रैल
२००४

१. विनीत अविनीत री चौपई, ढाल १, गाथा १०

अविनय और संगठन (१)

वीतराग के लिए संगठन की जरूरत नहीं होती। अवीतराग संगठन को व्यवस्थित रख नहीं पाता।

अवीतराग मुनि के मन में गुरु के प्रति भी अविनय के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। आचार्य भिक्षु ने उस मनोभाव का चित्रण मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है।

कोई प्रतनीक ओगुण बोले गुर तणां,
अवनीत गुरद्रोही पासै आय।
तो उत्तर पड़उत्तर न दे तेहनै,
अभिंतर में मन रलीयायत थाय॥
प्रतनीक ओगुण बोलै तेहनीं,
जो आवै उणरी रै पूरी परतीत।
तो अवनीत एकठ करै उण सूं घणी,
उ गुर रा ओगुण बोलै विपरीत॥
बले करै अभिमानी गुर सूं बरोबरी,
तिणरै प्रबल अविनौ नै अभिमान।
उ जद तद टोळां में आछौ नहीं,
ज्यूं बिगड्यौ बिगाड़ै सड़ियौ पान॥[१]

कोई प्रत्यनीक (विरोधी विचार वाला) व्यक्ति गुरुद्रोही

१. विनीत अविनीत री चोपई, ढाल १, गाथा २६ से २८

अविनीत के पास जाकर गुरु के अवगुण बोलता है तो वह उसे उत्तर प्रत्युत्तर नहीं देता, प्रत्युत अंतर्मन में बड़ा प्रसन्न होता है।

गुरु के अवगुण बोलने वाले प्रत्यनीक की पूरी प्रतीति हो जाने पर अविनीत उसके साथ गहरी सांठ गांठ कर लेता है और विपरीत बन गुरु का अवर्णवाद बोलता है।

और वह अभिमानी गुरु से बराबरी करता है। उसमें अविनय का भाव है, उसका अभिमान प्रबल है। उसका संघ में रहना कभी अच्छा नहीं होता, जैसे सड़ा हुआ पान दूसरे पान को बिगाड़ देता है।

१२ अप्रैल
२००४

अविनय और संगठन (२)

क्षणे रुष्टः क्षणे तुष्टः, रुष्टस्तुष्टः क्षणे क्षणे।
अनवस्थितचित्तानां, प्रसादोऽपि भयंकरः॥

आचार्य भिक्षु के अनुसार इस प्रकार की मनोवृत्ति संगठन के लिए बहुत बड़ी बाधा है।

एक प्रश्न बहुत बार सामने आता है कि तेरापंथ से पृथक् होने वाले मुनियों का संगठन बना नहीं, क्वचित् किंचित् बना तो वह टिका नहीं। इसका हेतु आचार्य भिक्षु की वाणी में स्पष्ट रूप में मिलता है।

औ खिण मांहे रंग-विरंग करतौ थकौ,
बलै गुर सूं पिण जाए खिण मैं रूस।
जब गूंथै अग्यांनी कूड़ा गूंथणा,
और अवनीत सूं मिलवा री मनहूंस॥
जो अवनीत नै अवनीत भेळा हुवे,
तो मिल-मिल करै ग्यांनी गूझ।
क्रोध रै वस गुर री करै असातना,
पिण आपौ नहीं खोजै मूढ़ अबूझ॥
जो अवनीत अवनीत सूं एकठ करै,
ते पिण थोड़ा में बिखर जाय।
त्यारै क्रोध अहंकार नै लोळपणौ घणौ,
ते तो साधां में केम खटाय॥[1]

१. विनीत अविनीत री चोपई, ढाल १. २९ से ३१

वह क्षण-क्षण में रंग बदलता रहता है। गुरु से भी वह क्षण भर में रूठ जाता है। जब रूठता है उस समय वह मिथ्या कल्पना करने लग जाता है और अविनीत से मिलने की प्रबल इच्छा हो जाती है।

जब अविनीत अविनीत से मिलता है तब वे मिलकर गुह्य बातें करते हैं। क्रोध के वशीभूत हो गुरु की आशातना करते हैं परंतु वे मूढ़ अपनी कमियां नहीं देखते।

जो अविनीत अविनीत से एकत्व करता है तो वह स्वल्प समय में ही बिखर जाता है। उसके क्रोध, अहं तथा लोलुपता की प्रबलता होती है, अतः वह साधुओं के साथ कैसे निभ सकता है?

१३ अप्रैल
२००४

विनीत का लक्षण

सुगुरा सर्प कृतज्ञ होता है। वह जंगल में मूर्च्छित पड़ा है। उसे कोई व्यक्ति दूध पिलाता है, वह अपनी कृतज्ञ बुद्धि के कारण उसका उपयोग करता है, उसका सहयोग करता है। आचार्य भिक्षु ने विनीत की तुलना सुगुरा सर्प से की है।

सुगुरा सांप ने दूध पायां थकां, तौ उ करै पाछौ उपगार।
तिणनै धन देई ने धनवंत करै, वले दीठा हुवै हरख अपार॥
ज्यूं कोई आप छांदे थो एकलो,पिण सरल परणांमी नै सुध नीतो।
तिणनै समझाय नै संजम दियौ, ते आज्ञा पाळे रूड़ी रीतो॥
कीधौ उपगार कदै नहीं वीसरै, सर्व देही त्यारै कार्जे सूंपै।
त्यांरौ दरसण देख हरषत हुवै, सर्व काम में धोरी ज्यूं जूंपै॥
तिणनै समकत नै संजम बेहुं, रुचिया अभिंतर पूरो।
ते चलावै ज्यूं चालै छांदौ रूंध नें,पाछौ उपगार करण ने सूरो॥
वले गामां नगरां फिरतां थकां, सदा काळ करै गुण ग्रांमा।
ते सुविनीत गुणग्राही आतमा, त्यांनै वीर बखाण्यां तांमो॥[1]

सुगुरा (जिसका गुरु अच्छा हो) सर्प को दूध पिलाने पर वह प्रत्युपकार करता है। दूध पिलाने वाले को धन देकर धनवान बना देता है। उसे देखकर अत्यंत हर्षित होता है।

एक साधु स्वच्छन्द था, एकल विहारी था। पर उसके परिणाम

---

१. विनीत अविनीत री चोपई, ढाल ७.२६से २९

सरल थे, नीति शुद्ध थी। गुरु ने उसे समझाकर संयम प्रदान किया। वह सम्यक् प्रकार से आज्ञा का पालन करने लगा।

वह कृत उपकार को कभी नहीं भूलता। समूचा शरीर गुरु की सेवा में समर्पित करता है। उन्हें देखते ही हर्षित होता है और सब कार्यों में धोरी बैल की तरह जुता रहता है।

वह गांवों और नगरों में परिव्रजन करता हुआ सर्वदा गुरु का गुणानुवाद करता है, वह सुविनीत है। उसका स्वभाव गुणग्राही है, ऐसे विनीत शिष्य की भगवान ने सराहना की है।

१४ अप्रैल
२००४

विनीत का व्यवहार

आचार्य भिक्षु ने विनीत के व्यवहार का मार्मिक विश्लेषण किया है।

सारणा और वारणा—ये दोनों गुरु के कार्य हैं। गुरु बार-बार निषेध का प्रयोग करता है। अकल्पनीय कार्य करने से रोकता है, तब भी विनीत शिष्य क्रोध नहीं करता।

बहुत अध्ययन करता है फिर भी अहंकार नहीं करता। अविनीत उच्छृंखलता की बात करता है, उसे ध्यान देकर नहीं सुनता।

गुरु अपने पास रखता है तो प्रसन्नता से रहता है, और किसी साधु के साथ भेजता है तो वहां भी प्रसन्नता से चला जाता है।

घणो भणे तो ही न करे मान,
अवनीत री बात सुणे नहीं कान॥
तिणने गुर करड़े वचने देवे सीख,
तो पिण अविना साहमी ने भरे वीख।
वले गुर निषेदे वारूंवार,
तो पिण न करे क्रोध लिगार॥
गुर ने देखी करड़ी निजर करूर;
तो पिण न बिगाड़े मुख नो नूर।
गुर राखे तो रहे गुर नी हजूर,
गुर न राषे तो सुषे रहे दूर॥[1]

---

१. सांमधर्मी सांमद्रोही री ढाल गाथा २०,२१,२२

विनीत शिष्य बहुत पढ़ता है फिर भी अहंकार नहीं करता। वह अविनीत की बात पर ध्यान नहीं देता।

उसे गुरु कठोर वचन से सीख देते हैं फिर भी वह गुरु का सामना नहीं करता, गुरु बार-बार उसे रोकते-टोकते हैं फिर भी वह किञ्चिद् क्रोध नहीं करता।

वह गुरु की करड़ी नजर को देखता है तो भी मूंह का नूर नहीं बिगाड़ता। यदि गुरु अपने पास रखता है तो सेवा में रहता है। यदि गुरु उसे बाहर भेजते हैं तो वह आनंद के साथ दूर रह जाता है।

१५ अप्रैल
२००४

विनीत और संगठन

आचार्य भिक्षु ने विनीत को इसलिए महत्त्व दिया कि उसका व्यवहार संगठन के अनुकूल होता है। उसके मन में शिष्य बनाने की आकांक्षा नहीं होती। वह आज्ञा को प्राथमिकता देता है और अपनी वृत्तियों पर नियंत्रण रखता है।

विनीत सिख रे सिख री मन में ऊपनी,
पिण गुर री आज्ञा विण न करे चाव।
तिण आत्म दम ने इंद्र्यां वस करी,
सीख मिलियां न मिलियां सरल सभाव॥
जो विनीत आगे घर छोड़े तेहने रे,
तो वनीत बोले सूतर रे न्याय।
हूं गुर री आज्ञा विण चेलो किम करूं रे,
हूं दिख्या देसूं पूछी गुर ने जाय॥[1]

विनीत शिष्य के मन में शिष्य बनाने की इच्छा होती है। गुरु की आज्ञा के बिना वह उसे क्रियान्वित नहीं करता। वह सरल स्वभावी सीख मिलने पर आत्मा का दमन और इंद्रियों को वश में कर लेता है।

जो विनीत के पास घर छोड़कर दीक्षा लेना चाहता है तो विनीत उसे सूत्र के न्याय से कहता है कि मैं गुरु की आज्ञा के बिना शिष्य कैसे करूं। मैं जाकर गुरु को पूछूंगा फिर दीक्षा दूंगा।

१. विनीत अविनीत री चोपई, ढाल १, गाथा २०,२१

विनय का प्रयोजन

आचार्य भिक्षु ने विनय को प्राथमिकता की सूची में रखा और उसे अतिशय महत्त्व दिया। उनकी भाषा में विनय जिन शासन का मूल है। उसका प्रयोजन है निर्वाण।

निर्वाण की सिद्धि के लिए किया जाने वाला विनय चेतना को उदात्त बनाता है।

विनो तो जिण शासण रो मूल छै,
विनो निरवाण साधन काज।[1]

विनय जिनशासन का मूल है। विनय निर्वाण की साधना के लिए है।

१७ अप्रैल
२००४

१. विनीत अविनीत री चोपई, ढाल १, गाथा ४

विनम्रता

विनम्रता तेरापंथ की जन्मघूंटी है। वह जैसे छोटे साधु-साध्वियों के लिए आचरणीय है वैसे ही आचार्य के लिए भी आचरणीय है।

जयाचार्य ने इस विषय में युवाचार्य मघवा को जो मार्गदर्शन दिया, वह इस वक्तव्य का साक्षी है।

चरण बड़ा संता ने वनणां, आछी रीत उदारी।
तूं सुध कीजै जग जस लीजै, मूल रीत ए भारी।।
विहार करी नै बड़ा मुनिसर, आयां नगर मझारी।
आसण छोड़ी, ऊभो थई नै,कर वंदण हितकारी।।[1]

चारित्र पर्याय में बड़े संतों को चरण वंदना करना अच्छी परम्परा है। तुम शुद्ध नीति से उन्हें वंदना करना, इससे यश होगा और यह मौलिक रीति है।

विहार करके दीक्षा पर्याय में बड़े मुनि नगर में आए तो आसन छोड़ कर खड़े होकर उन्हें वंदना करना, यह संघ के लिए हित पक्ष है।

१८ अप्रैल
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ६३, गणपति सिखावण, गाथा ८२-८३

संबंध विच्छेद की मर्यादा

कोई साधु समर्थ है, संघ में सम्मान्य है पर उसकी आस्था डांवाडोल है। चारित्र-पालन की नीति नहीं है। उसे किसी भय या संकोच के बिना गण से पृथक् किया जा सकता है।

चरण पालण नीं नीत हुवै नहीं, तसु काढै गण बारी।
तिण री काण मूल मत राखै, डर भय दूर निवारी॥[1]

जिसकी चारित्र-पालन की नीति न हो, उसे गण से पृथक् कर दिया जाए। उसे कोई महत्त्व मत देना, न कोई संकोच करना और न भयभीत होना।

१९ अप्रैल
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ६३, गणापति सिखावण, गाथा ७६

संदेह

कुछ मुनि किसी कारणवश आस्थाहीन हो जाते हैं। उनके मन में अपने प्रति तथा अन्य साधु-साध्वियों के प्रति संदेह का भाव पनप जाता है। उस संदिग्ध अवस्था के कारण वे संघ से पृथक् होकर नए सिरे से मुनि दीक्षा स्वीकार करते हैं। इस स्थिति में भी राग-द्वेष बढ़ाने वाली प्रवृत्ति न हो, इसे ध्यान में रखकर सं. १८५० के लिखत में एक पथदर्शन दिया—

'कदा कर्म जोगे, अथवा क्रोध वस साधा नै साधवियां नै सर्व टोला नै असाध सरधै, आप में पिण असाधपणों सरध नैं फेर साधपणो लेवै तो ही पिण अठीरा साध-साधवियां री संका घालण रा त्याग छै। खोटा कहिण रा त्याग छै। ज्यूं रा ज्यूं पालणा छै। पछै यू कहिण रा पिण त्याग छै—'म्हें तो फैर साधपणो लीधो अबै म्हारै आगला सूंसा रो अटकाव कोइ नहीं।'[1]

कदाचित् कर्मवश अथवा क्रोध वश साधु-साध्वियों को तथा संपूर्ण गण को असाधु माने। अपने आप को भी असाधु मानकर पुनः साधु दीक्षा ले तो भी गण के साधु-साध्वियों के प्रति शंका पैदा करने का त्याग है, उन्हें सदोष कहने का त्याग है। इस त्याग का विधिवत् पालन करना। फिर यह कहने का भी त्याग है—हमने तो दुबारा साधुपन लिया है, अब मेरे पहले किए हुए त्याग की कोई बाधा नहीं है।

२० अप्रैल
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४३, सं. १८५० के लिखत का अंश।

सेवा व्यवस्था के सूत्र (१)

आचार्य भिक्षु साधु-साध्वियों की सेवा के प्रति बहुत जागरूक थे। सेवा की समस्या पर भी उन्होंने ध्यांन केंन्द्रित किया था। सेवा के विषय में पारस्परिक संदेहों का निराकरण करने के लिए उन्होंने उनका स्पष्ट निर्देश दिया है।

१. जितरे गोचरी आप न उठै तिण सूं विवणो ऊठणो।

२. विहार मैं बोझ उपड़ावै, जितरा दिन विगै रा त्याग छै। बलै उण रो बोझ पाछो विवणो उपारणो, आछो आहार लेवै तो पाछो विवणो टाल देणो।[1]

कोई साध्वी जितने दिनों तक गोचरी न जाए उसे दुगुने दिन गोचरी जाना होगा।

विहार में जितने दिन बोझ उठवाए उतने दिन तक विगय त्याग करना होगा। पुनः उसे दुगुना बोझ उठाना होगा। जितने दिन सरस आहार ले उतने दिन सरस आहार (विगय) का वर्जन करें।

२१ अप्रैल
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४९, सं. १८५२ के लिखत का अंश।

सेवा व्यवस्था के सूत्र (२)

आचार्य भिक्षु ने मानवीय दुर्बलता को ध्यान में रखकर औषध आदि के विषय में कुछ नियंत्रण के सूत्र भी दिए।

'किण रो इ वैहर नै मांग नै आणै तो पिण विवणो टाळ देणो तेहनी विगत लिखिये छै–

१. पांच लूंग खायै तो एक दिन विगै टाळणा, टका भर आप री पांती आवै जद।

इम बीजा बोल लिखै छै–त्यां रो पिण–२. अधेला भर सूंठ रो ३. अधेला भर अजमा रो ४.खांड सूं विवणो घी ५. निवात सूं चौगुणो घी ६. गूळ सूं विवणो गुळ के बरोबर घी ७. दूध दही सू विवणो दूध दही के अध सेर दूध दही रो एक दिन घी। ८. पैला आगै उपगरण उपरावै तो एक दिन घी ९. आथण रो उन्हो आणै, १०. आख्यां मांहै काजल ११. पीपलामूल टाक रो १२. आंख्यां मांहै ओषध रो १३. तीन बार दिसां जायै जब बीजै दिन एकासणो नै लूखो खाणो। १४. रातै दिसां जाय, तिण रे दोय दिन लूखो। १५. गतो पीए तिण रे पनरै दिन विगै रा त्याग छै।'[१]

किसी के घर से मांग कर (गृहस्थ के हाथ से बहर की भी) कोई चीज लाए तो उससे दुगुणे दिन (एक दिन लाए तो बदले में

---

१. ते.म.व्यवस्था, पृ.४४९-४५०,सं. १८५२ के लिखत का अंश

दो दिन) उस वस्तु का वर्जन करे। उसकी विगत (सूचि) इस प्रकार है–

१. पांच लौंग खाये (ले) तो एक दिन वगय (घी) छोड़े। टके भर (१ कल्प-५ तोला) अपनी पांती (विभाग में) आता है तो भी। २. अधेला भर (६ मासा. ९.५४४ ग्राम बराबर) सौंठ ले तो ३. अधेला भर अजमा (अजवायन) ले तो एक दिन घी छोड़े। ४. खांड (देशी चीनी) ले तो दुगुना घी छोड़े। ५. निवात (मिश्री) ले तो चौगुना घी छोड़े। ६. गुड़ ले तो गुड़ से दुगुणा के बराबर घी छोड़े। ७. दूध दही ले तो दुगुणा दूध-दही वर्जन करे। आधा सेर तक दूध दही ले तो एक दिन घी वर्जन करे। ८. दूसरों से अपने उपकरण (बोझ) उठवाये तो एक दिन घी छोड़े। ९. सायंकाल उष्णाहार ले तो एक दिन घी वर्जन करे। १०. आंखों में काजल डाले तो एक दिन घी न ले। ११. पीपला मूल एक टांक (६ मासा बराबर) ले तो एक दिन घी छोड़े। १२. आंख में कोई दवा डाले तो एक दिन घी वर्जन करे। १३. तीन बार यदि कोई पंचमी समिति जाए तो दूसरे दिन एकासन करे और लूखा खाये। १४. रात को यदि पंचमी समिति का काम पड़े तो उसे दो दिन रूखा खाना। १५. गौंद की रई पीये उसके पंद्रह दिन विगय के त्याग है।

२२ अप्रैल
२००४

विनय का व्यावहारिक रूप (१)

मौलिक गुणों की पंक्ति में विनय का पहला स्थान है। जयाचार्य ने इसके व्यावहारिक रूप का हृदयग्राही निरूपण किया है। उसके कुछ सूत्र इस प्रकार हैं–

१. सुगुरु से परम प्रेम

२. आशातना–अवज्ञा, अवमानना का वर्जन

३. नियमों का निर्मल भाव से निर्वाह

प्रथम विनय गुण विमल मूलगो,
परम सुगुरु सूं पेमो रे।
असातना टाले चित ऊजल,
निमल निभावे नेमो रे॥[१]

२३ अप्रैल
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ८३ शिक्षा री चोपी : ढाल ५.१

विनय का व्यावहारिक रूप (२)

विनम्रता का सहायक गुण है प्रमोद भावना। आचार्य एक साधु को आदर देते हैं, उसकी प्रशंसा करते हैं तो विनीत साधु के मन में अरति नहीं उपजती। यदि विनम्रता न हो तो उसके प्रति ईर्ष्या का भाव पैदा हो सकता है।

अपर मुनी नें अति आदर दै,
सतगुरु घणों सरावै।
असणादिक वस्त्रादिक आपै,
तो पिण अरति न ल्यावै॥[1]

आचार्य किसी साधु को बहुत अधिक सम्मान देते हैं, उसकी बहुत बहुत प्रशंसा करते हैं, उसे अशन, पान, वस्त्र आदि देते हैं फिर भी विनीत साधु उसके प्रति अरति का भाव नहीं लाता।

२४ अप्रैल
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ८३ शिक्षा री चोपी : ढाल ५.५

चरित्र : विनीत और अविनीत का

आचार्य भिक्षु ने विनीत और अविनीत दोनों का मूल्यांकन किया है।

कोई व्यक्ति विनीत के द्वारा संबुद्ध होता है और कोई अविनीत के द्वारा। दोनों के चरित्र में इतना अंतर होता है जितना धूप और छांह में।

समझाया विनीत अविनीत रा,
त्यांमें फेर कितोयक होय।
ज्यूं तावडो नै छांह्डी,
इतरो अंतर जोय॥[1]

विनीत और अविनीत के पास समझे व्यक्तियों में इतना अन्तर होता है जितना धूप और छांह में।

२५ अप्रैल
२००४

---

१. विनीत अविनीत री चोपई, गाथा १५,

सैद्धांतिक मतभेद का समीकरण (१)

आचार्य भिक्षु ने संगठन की मजबूती पर जितना ध्यान दिया उतना ही उसके विघटन के कारणों पर ध्यान दिया और विघटन के कारणों का निवारण करने के लिए मर्यादा सूत्र दिए।

सैद्धांतिक अथवा वैचारिक मतभेद विघटन का एक बड़ा कारण है। इस विषय में आचार्य भिक्षु ने मर्यादा सूत्र दिया। वह इस प्रकार है—

'आचार पाला छां तिण रीते चोखो पालणो। इण आचार मांहै खामी जाणो तो अबारूं कहि देणो। पछै मांहो मां ताण करणी नहीं। किण ही नै दोष भास जाय तो बुधवंत साध री परतीत कर लेणी पिण खांच करणी नहीं।'[1]

आचार का पालन कर रहे हैं उसी प्रकार अच्छी तरह आचार का पालन करो। उस आचार में खामी जानो तो अभी कह देना। बाद में परस्पर खींचातान नहीं करना है। किसी को आचार में दोष जान पड़े तो बुद्धिमान साध की प्रतीति करे किन्तु खींचातान न करे।

२६ अप्रैल
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४५२, सं १८५९ के लिखत का अंश।

सैद्धांतिक मतभेद का समीकरण (२)

आग्रह संगठन के लिए बहुत बड़ा अवरोध है। आचार्य भिक्षु ने इसका अनुभव किया और अनुभव की वाणी में कहा—सैद्धांतिक विषय में विचार-भेद होने पर भी आग्रह नहीं होना चाहिए। चिंतनपूर्वक विचार का समीकरण किया जाए और विग्रह बढ़े वैसा प्रयत्न न हो।

सं. १८५९ के लिखत का विधान है—

'हिवै किण ही नै छोड़णो मेलणो परै, किण ही चरचा बोल रो काम परै तो बुधवान साध विचार नै करणो। बलै सरधा रो बोल पिण बुधवंत हुवै ते विचार नै संचै बैसाणणो। कोइ बोल न बैसे तो ताण करणी नहीं। केवळियां ने भलावणो। पिण खांच अंस मात्र करणी नहीं।'[1]

किसी चालू प्रवृत्ति को छोड़ना पड़े, किसी चर्चा और बोल का काम पड़े तो बुद्धिमान साधु विचार कर करें और कोई श्रद्धा का बोल चर्चनीय हो तो बुद्धिमान विचार कर उसे व्यवस्थित कर दें। कोई बोल समझ में न आए तो खींचातान नहीं करे, केवलिगम्य कर दे, पर खींचातान अंशमात्र न की जाए।

२७ अप्रैल
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४५२, सं १८५९ के लिखत का अंश।

सैद्धांतिक मतभेद : समीकरण की प्रक्रिया

मुनि आगम के आधार पर श्रद्धा और आचार का निर्णय करते हैं। आगम के निर्देश और उनके रहस्य अथाह हैं। जैसे-जैसे अध्ययन करते हैं वैसे-वैसे नए-नए विषय सामने आते जाते हैं। किसी मुनि के ध्यान में श्रद्धा और आचार का कोई नया बोल आए, उस स्थिति में उसे क्या करना चाहिए? इसका समीचीन दिशा निर्देश सं. १८५० के लिखत में मिलता है।

'कोइ सरधा रो आचार रो नवो बोल नीकलै तो बड़ा सू चरचणो पिण औरां सूं चरचणो नहीं। औरां सूं चरच नै औरां रै संका घालणी नहीं। बड़ा जाब देवै आप रै हीये बैसे तो मान लेणो, नहीं बैसे तो केवलियां ने भलावणो, पिण टोला मांहे भेद पारणो नहीं।'[1]

कोई श्रद्धा और आचार का नया बोल ध्यान में आए तो बड़ों (आचार्य या बहुश्रुत) से उसकी चर्चा करे, दूसरों के साथ उसकी चर्चा न करे। दूसरों के साथ चर्चा कर दूसरों में शंका पैदा न करें।

बड़े जो उत्तर दे वह अपने हृदय में बैठ जाए तो उसे स्वीकार कर ले। यदि नहीं बैठे तो केवलिगम्य कर दे किन्तु गण में भेद न डाले।

२८ अप्रैल
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४४, सं १८५० के लिखत का अंश।

ममत्व विसर्जन

जयाचार्य ने आचार्य भिक्षु द्वारा कृत अनुशासन, मर्यादा, और व्यवस्था को पुष्ट करने के लिए गंभीर चिंतन किया। उसका साक्षी है उनके द्वारा रचित 'शिक्षा की चोपी।'

आचार्य भिक्षु ने अनुभव किया—वही संगठन शक्तिशाली होता है जिसके सदस्यों में ममत्व-विसर्जन की क्षमता होती है। उस समय शिष्यों और पुस्तक-पन्नों पर ममत्व होने का अधिक प्रसंग था। इस विषय में जयाचार्य ने कुछ शिक्षा-पद लिखे।

चउमासा पछै गुरु रा दर्शन कीयां, सूंपौ पोथ्यां पड़गै सुखदाया।
सूंप्या विण च्यारूं आहार म भोगवौ,मेटो मान मछर दंभ माया।।
कनली आर्या गुरु पै मोकळयां, समाचार त्यां साथे सवाया।
आर्यां पोथ्यां हाजर आपरै, मन मानै ते दिवस मंगाया।।
पाडियारी सूंपी मो भर्णी, सहू आप तर्णी नेश्राया।
ममत धणियाप न मांहरै, सुविनीत ए शब्द सुणाया।।[1]

चतुर्मास के पश्चात् गुरु के दर्शन करते ही उन्हें पोथी-पन्ना सब सौंप दो। उसे सौंपे बिना चतुर्विध आहार का भोग न करे।

यदि कारणवश अग्रणी न आ सके तो अपनी सहवर्ती साध्वियों के साथ समाचार भेजे और निवेदन कराए कि साध्वियां और पुस्तक—सब आपके चरणों में अर्पित हैं। आप जब चाहें उन्हें मंगा लें।

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ६६, शिक्षा री चोपी, ढाल १/८-१०

ये सब साध्वियां और पुस्तक पन्ने आपकी नेश्राय में हैं। ये आपने मुझे प्रातिहारिक कार्य संचालन के लिए सौंपे हैं। इन पर मेरा ममत्व और स्वामित्व नहीं है। सुविनीत साध्वी इस प्रकार अपनी भावना प्रकट करती है।

२९ अप्रैल
२००४

ममत्व विसर्जन का सूत्र (१)

आचार्य भिक्षु ने साधना और संगठन दोनों दृष्टियों से आज्ञा को प्रधान स्थान दिया।

एक साधु किसी साध्वी को वस्त्र-पात्र आदि गुरु की आज्ञा के बिना नहीं दे सकता। इसी प्रकार एक साधु दूसरे साधु को गुरु की आज्ञा के बिना उपकरण नहीं दे सकता। उपकरण की याचना भी गुरु की आज्ञा बिना नहीं की जा सकती।

संघीय व्यवस्था की दृष्टि से इसकी बहुत उपयोगिता है।

बलै उपधादिक थी जाचवो, इत्यादिक काम अनेक।
बलै देवो लेवो और साध नै, गुर आज्ञा बिनां न करै एक॥[1]

कोई साधु उपकरण की याचना आदि अनेक कार्य गुरु की आज्ञा के बिना न करे।

किसी दूसरे साधु को वस्त्र आदि देने लेने का कार्य भी गुरु की आज्ञा के बिना नहीं करे।

३० अप्रैल
२००४

१. विनीत अविनीत री चोपई, गाथा ५

ममत्व विसर्जन का सूत्र (२)

तपस्या करना, किसी साधु से सेवा लेना अथवा किसी साधु को सेवा देना—ये विहित कार्य हैं। फिर भी गुरु की आज्ञा के बिना करणीय नहीं हैं।

उपवास बेलादिक तप करे, करै रसादिक परिहार।
ते पिण न करै आगन्यां विना, बलै संलेखणा संथार॥
करै व्यावच और साध री, और पास करावै आप।
ते पिण गुरु आगन्यां हुवां, एहवी जिन सासण री थाप॥
अंसमात्र करणो करावणो, ते पिण आगन्यां ले सुविनीत।
सर्व कारज में लेणी आगन्यां,एहवी बांधी छै अरिहंत रीत॥[1]

कोई साधु उपवास, बेला, विगय वर्जन, संलेखना और अनशन करता है पर गुरु की आज्ञा के बिना कुछ भी नहीं करे।

कोई साधु किसी अन्य साधु से सेवा लेता है अथवा करवाता है, वह भी गुरु की आज्ञा के बिना न करे। यह जिन शासन की स्थापना है।

सुविनीत साधु अंशमात्र भी कार्य करने और कराने के लिए आज्ञा ले। सभी कार्य में आज्ञा ले। यह अर्हत् द्वारा प्रतिपादित रीति है।

१ मई
२००४

१. विनीत अवनीत री चौपई, ढाल ८, गाथा २१ से २३

सामुदायिक व्यवस्था

आचार्य भिक्षु ने साधु-संघ में सामुदायिक व्यवस्था (समाजवादी व्यवस्था) का प्रयोग किया था। उसका आधारभूत तत्त्व है ममत्व का विसर्जन। उनके अनुसार धर्मोपकरण सब संघ के हैं, किसी व्यक्ति विशेष के नहीं। मुनि संघ में रहे तब भी धर्मोपकरणों पर संघ का अधिकार है। कोई संघ से पथक् हो तो भी उन्हें नहीं ले जा सकता। इस विषय में एक व्यवस्था सूत्र द्रष्टव्य है—

'बलै टोला मांहे उपगरण करै ते पाना परत लिखै ते टोला मांहि थकां परत पाना पातरादिक सर्व वस्तु जाचै ते साथै ले जावण रा त्याग छै। एक बोदो चोलपटो, मुंहपत्ती, एक बोदी पिछेवरी, खंडिया उपरंत बोदा रजोहरणां उपरंत साथै ले जावणों नहीं, उपगरण सर्व टोला री नेश्राय रा साधां रा छै और अंसमात्र साथै ले जावण रा पचखांण छे अनंता सिद्धां री साख करनै छै।'[1]

गण में रहकर उपकरणों का निर्माण करे, पन्ना और प्रति लिखे, गण में रहते हुए प्रति, पन्ना, पात्र आदि सभी वस्तुएं जाचे तो वे गण से बाहर जाते समय ले जाने का त्याग है। एक पुराना चोलपट्टा, मुख-वस्त्रिका, एक पुरानी पछेवड़ी, पुराना वस्त्र खंड, रजोहरण के अतिरिक्त साथ में न ले जाए। सारे उपकरण गण और आचार्य की निश्रा में हैं। उन्हें अंशमात्र भी साथ ले जाने का अनंत सिद्धों की साक्षी से त्याग है।

२ मई
२००४

१. ते. म. व्यवस्था : सं. १८५९ के लिखत का अंश।

संघ बहिर्गमन व्यवस्था

कोई साधु किसी कारणवश संघ से पृथक् हो जाता है। यह व्यक्तिगत स्वतंत्रता है। पृथक् होने के बाद वह राग-द्वेष बढ़ाने वाली चेष्टा न करे। इस विषय में आचार्य भिक्षु ने कुछ नीति सूत्र दिए।

प्रथम सूत्र में दलबंदी कर संघ से पृथक् होने वालों के विषय में नीति सूत्र इस प्रकार है—

'कदा कोइ असुभ कर्म रे जोग टोला मां सूं फारा तोड़ा करै नै एक, दोय, तीन आदि नीकलै, घणी धुरताइ करै, बुगल ध्यानी हुवै त्यां नै साध सरधणां नहीं। च्यार तीर्थ मांहै गिणवा नहीं, त्यांनै चतुरविध तीर्थ रा निंदक जाणवा, एहवा नै वांदै ते जिण आग्या बारै छै।'[१]

कदाचित् कोई अशुभ कर्म के कारण गण में भेद डाल करके एक, दो, तीन आदि साधु गण बाहर निकले, अधिक कपटाई करे, बगुल ध्यानी बने तो उन्हें साधु न मानें। चार तीर्थ में न गिनें। उनको चार तीर्थ का निंदक जानें। ऐसे साधुओं को वंदना करने वाला जिनाज्ञा के बाहर है।

३ मई
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४५२, सं. १८५९ के लिखत का अंश।

गण पृथक् व्यक्ति के लिए विधान

आचार्य भिक्षु ने मर्यादा और व्यवस्था के साथ वीतराग दृष्टि का बहुत ध्यान रखा। वीतरागता उनका लक्ष्य था। उसकी विस्मृति कभी नहीं हुई। उन्होंने गण से पृथक् होने वाले साधु-साध्वियों के लिए एक विधान दिया। उसके प्रथम दर्शन में राग-द्वेष का आभास होता है किन्तु उसके समग्र दर्शन में उनके राग-द्वेष मुक्त दृष्टिकोण का निदर्शन है।

'कोइ पूछे—यां खेतरां में रहिण रा सूंस क्यूं कराया, तिणनैं यूं कहिणो—राग धेखो वधतो जाण नैं, क्लैश वधतो जाण नै, उपगार घटतो जाण नै, इत्यादिक अनेक कारण जाण नै कराया छै।'[1]

कोई पूछे—श्रद्धालु क्षेत्रों में रहने का त्याग क्यों कराया, उसको ऐसा कहना—रांग-द्वेष बढ़ता हुआ जानकर, क्लेश बढ़ता जानकर, उपकार कम होता जानकर, इत्यादिक कारणों को जानकर त्याग कराया है।

४ मई
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४५३, सं. १८५९ के लिखत का अंश।

गण से पृथक् होने की स्थिति में

कोई साधु गण से पृथक् होने का संकल्प करता है। वह अकेला जाना नहीं चाहता, इसलिए दूसरों को भी संघ से पृथक् होने के लिए तैयार करता है। संघ के प्रति अनास्था पैदा कर उनका मन भंग करता है। इस समस्या के समाधान के लिए आचार्य भिक्षु ने सं. १८४५ के लिखत में विधान किया। वह संगठन की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

'टोला मां सूं फार नै साथै ले जावण रा त्याग छै। उ आवे तो ही ले जावण रा त्याग छै।'[1]

गण से फंट कराकर किसी साधु को साथ ले जाने का त्याग है। यदि वह आए तो भी साथ ले जाने का त्याग है।

५ मई
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४२, सं. १८४५ के लिखत का अंश।

गण से पृथक् हो जाने पर (१)

वि. सं. १८३२ के लिखत में संघ से पृथक् होने वाले व्यक्ति के विषय में पथदर्शन दिया गया है।

'कोइ टोला मां सूं फारातोरो कर नै एक दोय आदि नीकले, घणी धुरताइ करै, बुगलध्यानी हुवै, त्यां ने साधु सरधणां नहीं। च्यार तीर्थ मांहै गिणवा नहीं, यां नै चतुरविध संघ रा निंदक जाणवा। एहवा नै वांदै पूजै तके पिण आज्ञा बारै छै।'[1]

कोई गण में विद्यमान साधु अथवा साध्वियों को फंटाकर एक, दो, तीन आदि पृथक् होते हैं। बहुत धूर्तता का व्यवहार करते हैं, बकध्यानी बन जाते हैं। उन्हें साधु न सरधा जाए, चार तीर्थ में न गिना जाए। वे चतुर्विध संघ के निंदक हैं। ऐसे व्यक्तियों की वंदना, पूजा करता है वह भी तीर्थंकर की आज्ञा से बाहर है।

वि. सं. १८५९ के लिखत में गण से पृथक् होने वाले व्यक्ति के विषय में व्यवस्था के सूत्र दिए गए हैं।

'किण नै कर्म धको देवै ते टोळा सूं न्यारो परै, अथवा आपहीज टोळा सूं न्यारो हुवै, तो इण सरधा रा भाई बाई तिहां रहिणो नहीं।'[2]

किसी को कर्म धक्का दे तो गण से अलग होता है अथवा अपने आप गण से अलग होता है तो जहां श्रद्धालु भाई, बहिन रहते हो वहां नहीं रहना।

६ मई
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४३६, सं. १८३२ के लिखत का अंश।

२. वही, पृ. ४५२, सं. १८५९ के लिखत का अंश।

गण से पृथक् हो जाने पर (२)

आचार्य भिक्षु ने अनुभव किया कि कुछ साधु गण से पृथक् हो जाते हैं। किसी सैद्धांतिक मतभेद के कारण नहीं किन्तु अपनी प्रकृति की जटिलता और महत्त्वाकांक्षा के कारण कुछ साधु संघ से पृथक् हो जाते हैं और संघ के साधु-साध्वियों के अवगुण बोलते हैं। वे अपना आत्मालोचन नहीं करते, संघस्थ साधु-साध्वियों को निम्न दिखलाने का प्रयत्न करते हैं। इस व्यवहार से राग-द्वेष बढ़ता है। इस सारी स्थिति को ध्यान में रखकर आचार्य भिक्षु ने सं. १८४५ के लिखत में विधान किया—

'टोला मांहै कदाच कर्म जोगे टोला सूं न्यारो परै तो टोला रा साध-साधवियां रा अंसमात्र ओगुण बोलण रा त्याग छै।'

'यां री अंस मातर संका पड़ै ज्यूं, आसता उतरै ज्यूं, बोलण रा त्याग छै।'[1]

कदाचित् कर्म वश गण से अलग हो जाए तो गण के साधु-साध्वियों के अंशमात्र अवगुण बोलने का त्याग है।

उनके प्रति अंशमात्र शंका पैदा हो, आस्था कम हो वैसा बोलने का त्याग है।

७ मई
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४१, सं. १८४५ के लिखत का अंश।

गण से पृथक् हो जाने पर (३)

आचार्य भिक्षु ने संघ से पृथक् होने की मानसिकता का बड़ी सूक्ष्मता से अध्ययन किया। संघ से पृथक् होने वाले व्यक्ति को समाधानकारक पथदर्शन दिया। उसके आधार पर वह संघमुक्त होकर भी वातावरण को स्वस्थ बनाए रख सकता है। सं. १८५० के लिखत का विधान है—

'किण ही नै खेत्र काचो बतायां, किण ही नै कपड़ादिक मोटो दीधां, इत्यादिक कारणै कषाय उठै, जद गुरवादिक री निंद्या करण रा अवर्णवाद बोलण रा, एक एक आगै बोलण रा, मांहोमां मिलनै जिलो बांधण रा त्याग छै। अनंता सिद्धां री आंण छै।

गुरवादिक आगै भेलो तो आप रे मुतलब रहै, पछै आहारादिक थोड़ा घणां रो, कपड़ादिक रो नाम लेइ नै अवर्णवाद बोलण रा त्याग छै।'[1]

किसी को छोटा क्षेत्र बताया, किसी को मोटा कपड़ा दिया, इसके कारण उसका क्रोध प्रबल हो जाए, उस स्थिति में गुरु आदि की निंदा करने का, अवर्णवाद बोलने का, एक-एक के सामने प्रतिकूल बात करने का तथा परस्पर मिलकर दलबंदी करने का त्याग है। अनंत सिद्धों की आण है।

जब तक अपना स्वार्थ सधता हो गुरु आदि के साथ रहे, स्वार्थ न सधने पर आहार आदि कम या अधिक तथा वस्त्र आदि का बहाना लेकर अवर्णवाद बोलने का त्याग है।

८ मई
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृष्ठ ४४५, सं. १८५० के लिखत का अंश।

गण से पृथक् हो जाने पर (४)

व्यक्ति की मनोदशा समान नहीं रहती। जो व्यक्ति श्रद्धा के साथ संघ में सम्मिलित होता है किन्तु किसी परिस्थिति के कारण उसका मन संघ से उचट जाता है अथवा साधुपन के निर्वाह में असमर्थता आ जाती है। उस स्थिति में उसके कर्तव्य का बोध सं. १८५० के लिखत में मिलता है—

'मांहोमां जिलो बांधणो नहीं मिल-मिल नै। आप रो मन टोला सूं उचक्यो, अथवा साधपणो पलै नहीं, तो किण ही नै साथे ले जावण रा अनंता सिद्धां री साख कर नै पचखांण छै।'[1]

परस्पर मिलकर दलबंदी न करे। अपना मन गण से उचट गया अथवा साधुपन पालने में समर्थ नहीं है तो किसी को भी साथ ले जाने का अनंत सिद्धों की साक्षी से प्रत्याख्यान है।

९ मई
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४४, सं. १८५० के लिखत का अंश

सेवा की व्यवस्था

आचार्य भिक्षु ने सेवा की व्यवस्था की। वह धर्मसंघों की परम्परा में उल्लेखनीय घटना है।

तेरापंथ धर्मसंघ में साधु-साध्वियों की जो सेवा हो रही है उसका मूल आधार आचार्य भिक्षु द्वारा प्रदत्त व्यवस्था है।

सेवा-व्यवस्था के सूत्र–

१. जो कोई साध कारणीक हुवै, आंखियादिक गरढो गिलाण हुवै, जद और साध उण री अगिलाणपणै वियावच करणी।

२. उणनै संलेखणा री ताकीद देणी नहीं, उण नै वैराग वधै ज्यूं करणो।

३. उणरे विहार करण री रीत–निजर काची हुवै तो उणरे भरोसे निजर राखणी नहीं, उणनै घणी खप करनै चलावणो।

४. रोगियों हुवै तो उणरो बोझ उपारणो। उण रा घणां परिणाम चढ़ता रहै ज्यूं करणो। पिण उण में साधपणो हुवै तो उण नै छेह देणो नहीं।

५. उ राजी दावै वैराग सूं संलेखणा करै तो पिण उणरी वियावच करणी। कदा एक जणो करतो उछट हुवै तो सगला नै रीत प्रमाणे करणी। नहीं करै तो निषेध नै करावणी। जो उ न करै, तो उण नै बीजा आगा सूं करावणी किण लेखे।

६. कारणीक नै–रोगियो नै रीत प्रमाणे आहार सगला भेला होय नै कहै ते देणो।[1]

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४१, सं. १८४५ के लिखत का अंश

१. यदि कोई साधु अस्वस्थ हो—आंखों आदि से, गरडा—बूढ़ा-अवस्था से, ग्लाण—किसी व्याधि-रोग से, तब दूसरे साधु उसकी अग्लान भाव से सेवा करें।

२. उसे (अस्वस्थ-अक्षम को) संलेखना—तपस्या के लिए ताकीद—दबाब देना नहीं। उसका वैराग्य बढ़े ऐसा करना।

३. उसके विहार करने की विधि—यदि नजर कमजोर हो तो उसे उसके भरोसे छोड़ना नहीं, उसे खूब सावधानी से चलाना।

४. यदि कोई रोगी हो तो उसका वजन (बोझ) ले लेना। उसके परिणाम भाव (उत्साह) चढ़ते रहे वैसे करना। यदि उसमें साधुपन (साधुत्व पालने की नीयत) हो तो उसे छोड़ देना नहीं, छिटकाना नहीं।

५. वह राजी खुशी वैराग्य से संलेखना-तप करे तो भी उसकी सेवा करना। कदाचित एक साधु वैयावच करते-करते उछट—उकता जाए तो सबको मिलकर रीति-विधि से करना। जो नहीं करे उससे टोक कर (समझा कर) करवाना। यदि वह न करे तो उसे दूसरों से सेवा लेने का क्या अधिकार?

६. कारणीक—रोगी को रीति प्रमाणे आहार सब मिलकर कहे वह देना।

१० मई
२००४

आहार विवेक व्यवस्था (१)

स्वास्थ्य अथवा पोषण की दृष्टि से आहार-विषयक अनेक तालिकाएं मिलती हैं। दूध, दही, घी, चीनी का अधिक उपयोग न हो, इस विषय की जानकारी दी जाती है। आचार्य भिक्षु आहार के विषय में बहुत जागरूक थे।

आचार्य भिक्षु ने साधु-साध्वियों के लिए आहार विषयक जो जानकारी दी वह स्वास्थ्य और साधना—दोनों दृष्टियों से मननीय है।

१. एक दिन में दोय पइसा भर घी लेणो।

२. च्यार पइसा भर मिष्ठांन—खांड, गुल, पतासा, मिश्री, बूरौ, ओला का लाडू।

३. अध सेर दूध, दही, खीर, अधसेर आसरै धनागरो।

४. खाजा, साकुली, पापरीयांदिक, पाव सीरा, लाफसी, चूरमादिक भेली पावरीया मांहिली थोड़ी-थोड़ी आवै तो पाव रा उनमान लेखवे लेणा।

५. उपवास रे पारणे च्यार पइसा भर घी बीजा बोल उतराइज।

६. बेला तेला चोला रे पारणै घी छ पइसा भर बीजा उतराइज।

७. पांच उपवास आदि मोटी तपसा रै पारणै ८ पइसा भर घी बीजा उतराइज।[1]

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४५४, सं. १८५९ के लिखत का अंश

१. एक दिन में दो पैसे भर (४ तोला ४५ ग्राम बराबर) घी लेना।

२. चार पैसे भर (९०) मिष्ठान्न—खांड-गुड़-पतासा-मिश्री-बूरा ओलों के लड्डू।

३. आधा सेर (४६३ ग्राम बराबर) दूध, दही, खोर। आधा सेर अंदाज धनागरा।

४. खाजा, सांकुली, पापड़ी आदि पाव (२३२ ग्राम बराबर) हलवा, लापसी, चूरमा आदि सम्मिलित पाव, इनमें थोड़ी-थोड़ी आए तो पाव के अनुमान गिन लेना।

५. उपवास के पारणे में चार पैसे भर घी (८ तोला ९० ग्राम लगभग) दूसरे द्रव्य उतने ही।

६. बेला, तेला और चोला (दो उपवास, तीन उपवास और चार उपवास) के पारणे में ६ पैसे भर (१३५ ग्राम) घी। शेष द्रव्य उतने ही।

७. पांच उपवास आदि बड़ी तपस्या के पारणे में ८ पैसे भर (२८० ग्राम) घी। शेष वस्तुएं उतनी ही।

११ मई
२००४

आहार विवेक व्यवस्था (२)

आचार्य भिक्षु ने परिस्थिति और साधु-साध्वियों की मनःस्थिति दोनों को ध्यान में रखकर आहार के विषय में कुछ विशेष निर्देश दिए।

'कदाच टका भर सूं अधिकेरो खाय तो बीजा दिन घी न खाणो।

और दूध दही सुंखरीयादिक नी मर्यादा उपरंत अधिको खावै जद बीजै दिन जे जे वस्तु भोगवण रा त्याग छै।

कदाचित दोय तीन दिन विचे विगै न खाधो हुवै तो घी च्यार पइसा भर रो आगार छै।

कदाच बांटता-बांटता अधेला पइसा भर वधै, तो एकण नै दे काढणो। तिण नै उतरो परो देणो, दूजै दिन पछै देण रो दावो नहीं।

कदाच आहार अणमिलियां आटादिक रो जोग मिलियां थी खांड गुलादिक अधिको लेवे तो अटकाव नहीं।

आचार्य कनै साधु-साध्वी शेष काल अथवा चोमासो रहै, त्या रे विगै पांच नै सूंखरीयादिक री मर्याद नै सूंस नहीं छै।

साध-साध्वी घणा हुवै थोड़ा हुवै कदेइ आहार थोड़ो आवै कदै घणो। तिण रो तो आचार्य अवसर देख लेसी, त्यांरो कोइ बीजा साध नाम लेण पावै नहीं।'[1]

कभी दो पैसे भर से अधिक घी लेले तो दूसरे दिन घी न लेना।

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४५४, सं. १८५९ के दूसरे लिखत का अंश

और दूध-दही सूखड़ी (मिठाई) मर्यादा उपरांत अधिक खा ले तो दूसरे दिन वे-वे द्रव्य खाने का त्याग है।

कदाचित दो तीन दिन बीच में विगय न खायी हो तो घी चार पैसे भर लेने का आगार (छूट) है।

कभी विभाग बांटते अधेले भर (आधा पैसे भर) घी-वस्तु बढ़ (बच) जाए तो किसी एक को दे देना। दूसरे दिन बढ़ी हुई उसी को देना कोई जरूरी नहीं।

कदाचित आहार न मिलने पर आटा आदि का योग मिलने पर घी-खांड गुड़ आदि अधिक ले तो दिक्कत नहीं।

आचार्य के पास साधु-साध्वी शेषकाल या चातुर्मास में रहें, उनके पांच विगय, सूंखडी (मिठाई) आदि की मर्यादा और त्याग नहीं है।

साधु-साध्वी अधिक हो या कम, कभी आहार कम आए या अधिक। उस समय आचार्य स्वयं अवसर के अनुरूप निर्णय कर लेंगे। इस बात पर (आचार्य कभी किसी को आज्ञा दे या न दें) तर्क नहीं कर पाएंगे।

१२ मई
२००४

आहार की समस्या

आहार की लोलुपता साधु जीवन की समस्याओं में एक बड़ी समस्या है। आहार की आसक्ति के कारण अनेक व्यक्ति छोटे-छोटे गांवों में प्रवास नहीं करते। इस समस्या के कारण कुछ व्यक्ति संघ को छोड़कर स्वतंत्र हो जाते। इस समस्या को ध्यान में रखकर आचार्य भिक्षु ने दो ऐसे निर्देश दिए जो संभाव्य और असंभाव्य के मध्य कार्य करते हैं।

'कोइ टोळा मां सूं टलै अथवा बारै काढै तो पिण ए सूंस जावजीव रा छै, यूं कहिणो नहीं–'म्हारै तो यां भेळां थकां सूंस था, पछै म्हारै सूंस कोइ नहीं,' यूं कहिण रा त्याग छै।

कदाच कोइ लोळपी थको खावां रे वास्ते बारै नीकळै तिण रे पिण ए सूंस छै।'[1]

कोई साधु गण से अलग हो जाता है अथवा उसे पृथक् किया जाता है तो भी ये त्याग यावज्जीवन के लिए हैं। ऐसा नहीं कहना है कि जब मैं गण में था तब मेरे त्याग थे। उसके बाद मेरे कोई त्याग नहीं है। यह कहने का भी त्याग है।

कदाचित् कोई लोलुपी होकर खाने के लिए गण से बाहर निकलता है, उसके भी ये त्याग हैं।

१३ मई
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४५४, सं. १८५९ के दूसरे लिखत का अंश

वस्त्र-व्यवस्था

आचार्य भिक्षु के वर्तमान काल में वस्त्र की प्राप्ति सुलभ नहीं थी। हिन्दुस्तान में वस्त्र निर्माण के कारखाने भी संभवतः नहीं थे। प्रायः महीन वस्त्र कम मिलता था। इस परिस्थिति को ध्यान में रखकर सं. १८५९ के लिखत में आचार्य भिक्षु ने लिखा–

'बीस कोष चालीस अथवा अलगो दूर चोमासो उतरियां अथवा सेखाकाल कपड़ो जाचियो हुवै तो आप रै मते फार तोड़ नै बैंट-बैंट नै पैहरणो नहीं। कदा जरूर रो काम पड़ै तो जाडो-जाडो तो बांट लेणो। मही तो आचार्य री आगन्या बिना बांटणो नहीं। मही तो आचार्य आगै आण नै मेलणो। आचार्य जथा जोग इच्छा आवै ज्यूं दे, ते लेणो, पिण तिण री पाछी बात चलावणी नहीं। इण नै मही दीधो, इण नै मोटो दीधो, इम कहिणो नहीं।'[1]

चातुर्मास सम्पन्न होने पर अथवा शेष काल में बीस कोष, चालीस कोष अथवा इससे अधिक दूरवर्ती क्षेत्र से कपड़ा जांचा हो तो अपनी इच्छा से फाड़कर, बांटकर वस्त्र न पहनें।

कदाचित जरूरत पड़े तो मोटा कपड़ा बांट ले। महीन कपड़ा तो आचार्य की आज्ञा के बिना न बांटे। महीन कपड़ा आचार्य के सामने लाकर रख दे। आचार्य यथायोग्य इच्छा हो वह दे तो उसे ले ले, किंतु उसके लिए पुनः बात नहीं करना कि इसको महीन कपड़ा दिया है, इसको मोटा दिया है। इस प्रकार न कहे।

१४ मई
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४५२ सं. १८५९ के लिखत का अंश।

धर्मोपकरण

धर्मोपकरण संघीय होते हैं। इसकी पुष्टि अनेक लिखतों से होती है। सं. १८५० के लिखत में आचार्य भिक्षु ने विधान किया, वह व्यक्तिगत और सामुदायिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

'टोला मांहै रहिने पाना लिखे, अथवा लिखावै, अथवा कोइ देवै ते लेवे, ते टोला मांहै जठा तांइ तो उण रा छै। टोला सूं न्यारो हुवै जद पाना टोला रा साधां रा छै। साथै ले जावण रा त्याग छै।

परत पाना जाचै ते पिण बड़ां री, टोला री नेश्राय जाचणा, आपरी नेश्राय जाचण रा त्याग छै। जो कोइ अजाण पणै जाचणी आवै, तो पिण परत पाना बड़ा रा छै। या नै पिण साथ ले जावण रा त्याग छै।

पातरो लोट जाचै टोला मांहै थकां, ते पिण बड़ां री नेश्राय जाचणो, बड़ा देवै ते लेणो। ते पिण टोला मांहै छै जठा तांइ।

टोला बारै जाय तो साथ ले जावण रा त्याग छै।

कपड़ो नवो हुवै ते पिण टोला बारै ले जावण रा त्याग छै।[1]

गण में रहकर पन्ना लिखे अथवा लिखाए, कोई दे अथवा ले तो गण में रहे तब तक तो उसके हैं। गण से अलग हो तो पन्ने गण के, आचार्य के हैं। साथ ले जाने का त्याग है।

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४४ सं. १८५० के लिखत का अंश।

प्रति, पन्ना जांचे वे भी बड़ों की, गण की निश्रा में जांचे। अपनी निश्रा में जांचने का त्याग है। यदि अज्ञानतावश जांच ली तो वह प्रति भी बड़ों की है। उसे भी साथ ले जाने का त्याग है।

गण में रहते हुए पात्र, लोट जांचे वे भी बड़ों की निश्रा में जांचे, बड़ा उसे दे वह ले। वह भी गण में रहे तब तक। गण के बाहर जाए तो साथ ले जाने का त्याग है।

कपड़ा नया हो तो वह भी गण बाहर ले जाने का त्याग है।

१५ मई
२००४

संविभाग

मानसिक शांति का बहुत बड़ा सूत्र है संविभाग। संविभाग अचौर्यव्रत की साधना है। जो संविभाग नहीं करता वह चौर्य करता है। जो अपने हिस्से का नहीं है उसे लेना साधना की भाषा में चौर्य है। इसलिए मुनि को संविभाग की साधना करनी चाहिए।

जे असंविभागी लाधू, तिण ने कह्यो पापी साधू।
सतरम उत्तराज्झयणो, ए वीर तणां वर वयणो।।
असंविभागी नैं नहिं मोखो, दसवै. नवमें अवलोको।
वर संविभाग जे साधै, जे तीजो व्रत आराधै।।[1]

जो असंविभागी है उसे पापी साधु कहा गया है। महावीर वाणी उत्तराध्ययन के सतरहवें अध्ययन में इसका उल्लेख है।

असंविभागी को मोक्ष नहीं, यह दसवैकालिक के नवमें अध्ययन में बतलाया गया है। जो संविभाग की साधना करता है वह अचौर्य व्रत की आराधना करता है।

१६ मई
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ११२ शिक्षा री चौपी, ढाल २०.२२,२३

आचार्य का नवाचार (Protocol)

आचार्य एक गांव में प्रवास कर रहे हैं। वहां दूसरे गांव से विहार कर बड़े साधु आए। उस समय आचार्य के लिए उनकी अगवानी में जाना आवश्यक नहीं है। स्थिर परम्परा यह है कि बड़ा संत आएं, उस समय आचार्य अपना आसन छोड़ कर उन्हें वंदना करें।

विहार करी ने बड़ा संत पिण आयां, गणपति आपो।
सनमुख-गमन तणो नहीं कारण, स्थिर वंदन नी थापो॥
विहार करी नैं बड़ा आवियां, गणपति ऊभा थाई।
आसण छोड़ी, वंदणा करणी, अधिक किया अधिकाई॥[१]

विहार करके बड़े संत आचार्य के पास आएं उस समय आचार्य को अगवानी में जाना जरूरी नहीं है। उसे वंदना करने की स्थिर परम्परा है।

विहार करके बड़े साधु आए, आचार्य खड़े हो, आसन छोड़कर वंदना करे। यह विधि है। उससे अधिक कोई व्यवहार करे तो आचार्य की इच्छा पर निर्भर है।

१७ मई
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ८२, शिक्षा री चौपी, ढाल ५.१५,१६

आचार्य : वंदना व्यवहार

जयाचार्य ने आचार्य द्वारा किए जाने वाले वंदना आदि व्यवहार के विषय में कुछ निर्देश दिए हैं। वे बहुत अर्थपूर्ण हैं। 'न्यारा' से आने वाले साधु सबसे पहले आचार्य को वंदना करें। आने वालों में यदि कोई बड़ा साधु हो तो वह पहले आचार्य को वंदना करे, फिर आचार्य उसे वंदना करें।

विहार करी नै श्रमण आवियां, प्रथम गणी नैं वंदै।
गणपति बड़ा मुनि ने पाछै, वांदै अति आनंदे॥[१]

विहार करके साधु आते हैं, सबसे पहले वे आचार्य को वंदना करें। बाद में आचार्य दीक्षा पर्याय में ज्येष्ठ मुनि को आनंदपूर्वक वन्दना करें।

१८ मई
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ८२, शिक्षा री चोपी, ढाल ५.१८

आचार्य : आसन

बड़े संतों के सामने उच्च पट्ट पर नहीं बैठना चाहिए। यह एक सामान्य निर्देश है।

आचार्य यदि बड़े संतों की उपस्थिति में उच्च आसन पर बैठते हैं, इसमें कोई आपत्ति नहीं है। यह विशेष निर्देश है।

ऊंचे आसण गणपति बैठा, बड़ा संत तसु आगै।
महितळ बैठा तो पिण गणि नें, असातना नहीं लागै।।[1]

आचार्य ऊंचे आसन पर बैठते हैं। दीक्षा पर्याय में बड़े संत उनके सामने भूमि पर बैठते हैं। फिर भी आचार्य को आशातना का दोष नहीं लगता।

१९ मई
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ८२, शिक्षा री चौपी, ढाल ५.१९

आचार्य का दायित्व

संघ में दीक्षित होने वाला मुनि संघपति के प्रति पूर्ण समर्पित होता है। उसके लिए संघपति ही शरण होता है।

समर्पित व्यक्ति के लिए समर्पण लेने वाले का कठोर दायित्व होता है। इसलिए वह संघस्थ साधु की जीवन यात्रा को निर्बाध चलाने का यत्न करता है।

साधु-संघ में कोई साधु शरीर से रोगी होता है, कोई मन से। उनकी सेवा कराना संघपति का दायित्व है।

जयाचार्य ने निर्देश दिया कि जब तक साधु-जीवन में रहने की नीति हो तब तक उसे संघ से पृथक् न किया जाए।

नीत हुवै चारित पाळण री, दीजै स्हाज अपारी।
ए सगळा तुझ सरणै आया, तूं सहुं नों नेतारी॥
कोइक तों हुवै तन नों रोगी, कोइ मन रोगी धारी।
नीत हुवै चारित्र पालण री, स्हाज दियै हितकारी॥[1]

जब तक किसी भी साधु में चारित्र पालन करने की नीति है, तुम उसे सहयोग देना। सारे साधु तुम्हारी शरण में आए हैं। तुम सबके नेता हो।

गण में काई साधु शरीर से रोगी होता है, कोई मन से। जब तक उनके चारित्र पालन की नीति हो, उन्हें साहाय्य देते रहना।

२० मई
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ८२, गणपति सिखावण, गाथा ७४,७५

आचार्य के प्रति युवाचार्य

आचार्य संघ की चिरकालिक सुव्यवस्था के लिए किसी को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करते हैं। आचार्य के जीवन काल में वे उनके आज्ञाकारी के रूप में कार्य करते हैं। इस परम्परा का तेरांपंथ धर्मसंघ में सम्यक् रूप से अनुसरण हुआ है। जयाचार्य ने मघवा को इस विषय में जो पथदर्शन दिया वह यहां लागू होता है।

पद युवराज समापे गणपति, ते रहै त्यां लग सारी।
तूं सेवा कीजै साचै मन, रहिजै आज्ञाकारी॥[1]

आचार्य किसी मुनि को युवाचार्य पद पर मनोनीत करते हैं। जब तक आचार्य रहें तब तक उनकी सेवा करे। जयाचार्य ने मघवा को संबोधित कर कहा—तुम सच्चे मन से सेवा करना और आज्ञाकारी रहना।

२१ मई
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ८१, गणपति सिखावण, गाथा ८१

उत्तराधिकार का प्रश्न

आचार्य भिक्षु ने उत्तराधिकार के प्रश्न को बहुत ही गंभीर चिंतन से सुलझाया। उत्तराधिकारी का निर्णय करना केवल वर्तमान आचार्य पर छोड़ दिया। इसमें किसी का हस्तक्षेप नहीं होता। एक नेतृत्व का विधान मौलिक मर्यादा है। उत्तराधिकारी की नियुक्ति करना भी मौलिक मर्यादा है। तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि आचार्य भिक्षु ने उत्तराधिकारी के निर्णय को गंभीर माना था। इसका साक्ष्य है–'परम्परा'।

आचार्य भिक्षु ने वि. सं. १८३२ के लिखत में लिखा है–

'भारमलजी री इच्छा आवै गुरु भाइ चेलादिक नै टोळा रो भार सूंपै ते पिण कबूल छै। ते पिण रीत परंपरा छै, सर्व साध-साधवियां एकण री आज्ञा मांहे चालणो एहवी रीत बांधी छै।'[1]

आचार्य भिक्षु ने वि. सं. १८५९ में उपरोक्त लिखत की ही पुष्टि की है।

'भारमलजी री इच्छा आवै जद गुरु भाइ अथवा चेला नै टोळा रो भार सूंपे जद सर्व साध-साधव्यां नै उणरी आगन्यां मांहै चालणो एहवी रीत परंपरा बांधी छै। सर्व साध-साधवी एकण री आगन्या मांहै चालणो। एहवी रीत बांधी छै साध-साधव्यां रो मार्ग चालै जठा तांइ।'[2]

भारमलजी की इच्छा हो तब गुरु-भाई अथवा किसी भी शिष्य

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४३६, सं. १८३२ के लिखत का अंश।

२. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४५२ सं. १८५९ के लिखत का अंश।

को गण का भार सौंपे, यह भी स्वीकार है। यह केवल भारमलजी के लिए नहीं। यह एक परंपरा का सूत्रपात है—सभी साधु-साध्वियां एक आचार्य की आज्ञा में चले। इस रीति का प्रबंधन किया है।

२२ मई
२००४

युवाचार्य पद (१)

युवाचार्य की नियुक्ति के समय उपस्थित होने वाले प्रश्न–

१. दीक्षा पर्याय में बड़े मुनि को युवाचार्य बनाया जाए या छोटे को?

२. अवस्था में छोटे मुनि को युवाचार्य बनाया जाए या बड़े मुनि को?

३. युवाचार्य की नियुक्ति के समय संतों अथवा श्रावकों का हस्तक्षेप हो या नहीं?

जयाचार्य ने इन तीनों प्रश्नों का समाधान एक सूत्र में दिया। इस विषय में आचार्य की इच्छा ही प्रमाण है। इस निर्णय से युवाचार्य की नियुक्ति के समय आने वाली सारी जटिलताएं समाप्त हो गईं।

चरण बड़ा अथवा छोटा नै, वय लघु वृद्ध वखाणी रे।
गणपति थापै तास मानणौ, (ए) रीत परंपर जाणी रे।
आचारज नी इच्छा हुवै तसु, वर पट-पदवी वरणी।
संत अवर अथवा श्रावक नैं,किंचित तांण न करणी॥
किंचित मन मेलौ नवि करणो, आड-डोड मत आणो।
बांक सहित वच मूल न वदणो, तरक जिलो मत तरणो॥[1]

दीक्षा पर्याय में बड़े अथवा छोटे को तथा अवस्था में छोटे

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ८१, शिक्षा री चौपी, ढाल ४.२ से ४

अथवा वृद्ध (बड़ी अवस्था वाले) को आचार्य युवाचार्यपद पर स्थापित करे, सब उसकी आज्ञा को स्वीकार करे। यह रीत, परंपरा है।

आचार्य की इच्छा हो उसे ही वे युवाचार्य पद पर नियुक्त करेंगे। इस विषय में दूसरे संतों और श्रावकों की ओर से कोई खींचातान न हो, हस्तक्षेप न हो।

इस विषय में किंचित् भी मन मलिन न करे, संकल्प विकल्प न करे। वक्रता युक्त वचन न बोले, न कोई तर्क करे, न दलबंदी।

२३ मई
२००४

युवाचार्य पद (२)

युवाचार्य की नियुक्ति के प्रसंग में जयाचार्य ने एक और विमर्श प्रस्तुत किया है–किसी समय युवाचार्य पद के लिए उपयुक्त दो चार मुनि हों तो उसके लिए आचार्य क्या करें? इस विषय में जयाचार्य का विमर्श है कि उनमें जो अधिक विनयवान हो और जो अपनी विनम्रता से गुरु को अधिक प्रसन्न रखता हो, उसे युवाचार्य नियुक्त कर देना चाहिए।

विनय धर्म नों मूल कह्यौ वर, निपुण प्रथम गुण निरखी।
अवर सुगुण पाछे अवलोके, पद दीयै गुण गुण परखी॥
पद लायक दो च्यार आदि मुनि, सहु नीं बुध नहीं सरखी।
अधिक विनय सूं सुगुरु रिझायां, हद गणि पद दै हरखी॥[१]

विनय को धर्म का मूल कहा गया है। इसलिए आचार्य युवाचार्य की नियुक्ति के समय सबसे पहले उसी गुण को देखे। दूसरे गुणों को बाद में देखे। गुणों की परीक्षा कर युवाचार्य का पद दे।

पद योग्य दो, चार आदि मुनि हो सकते हैं किन्तु सबकी बुद्धि समान नहीं होती। जो अधिक विनय से गुरु को प्रसन्न करता है उसे आचार्य हर्षित होकर युवाचार्य पद देते हैं।

२४ मई
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ८१, शिक्षा री चोपी, ढाल ४.७,८

युवाचार्य पद (३)

आचार्य जिसे उचित समझकर युवाचार्य पद पर नियुक्त करें उसे सब 'प्रमुख' के रूप में स्वीकार करें। व्यवहार की दृष्टि से दीक्षा पर्याय में छोटे मुनि उसे तीसरे पद में वंदना करें। आचार्य और दीक्षा पर्याय में बड़े संत समुच्चय रूप में आचार्य को वंदना करें, किसी का नामोल्लेख न करें।

गणपति उचित जाण पद देवे, तास बड़ा सदहीजै।
पद थाप्यो तसु लघु मुनि, तीजै पद में आदि आणीजै॥
आचारज, अरु बड़ा संत तिम, तीजै पद रे मांही।
समचे आचारज नें वंदै, नाम लियां बिन ताही॥[१]

आचार्य योग्य जानकर जिसको पद दे, उसे सब बड़ा मानें। जिसे युवाचार्य पद पर स्थापित कर दिया, उन्हें भी दीक्षा पर्याय में छोटे मुनि तीसरे पद में वंदना करें।

आचार्य और दीक्षा पर्याय में बड़े संत समुच्चय रूप में किसी के नाम का उल्लेख किए बिना आचार्य को वंदना करें।

२५ मई
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ८१, शिक्षा री चौपी, ढाल ४.९,१०

युवाचार्य पद (४)

युवाचार्य पद पर नियुक्ति हो गई। आचार्य के स्वर्गवास के पश्चात् पदारोहण का विधिवत् आयोजन किया जाए या नहीं? इस प्रश्न के उत्तर में जयाचार्य ने बतलाया कि पदारोहण का आयोजन युवाचार्य की इच्छा पर निर्भर है। वे चाहें तो करें। यदि न चाहें तो बिना आयोजन के ही आचार्य पदोचित कार्य शुरू कर दें।

पद युवराज समाप्या, पाछै मन हुवै तो पट बैइसे।
मन होवै तो पट नवि बैसे, गणपति इच्छा रहिस्यै॥
भारीमाल तो पट नहीं बैठा, बैठा ऋषि, जय ज्यांही।
तिण सेती पट बेसण केरौ, कारण न दीसै कांइ॥
मन इच्छा सूं गणि पट बैसे, संत सत्यां ने सोयो।
अंस मात्र पिण ताण न करणी, अरज मिसै अवलोयो॥[1]

आचार्य के दिवंगत होने के बाद जो युवाचार्य पद पर नियुक्त है वह इच्छा हो तो पट्टोत्सव मनाए, इच्छा नहीं हो तो न मनाए। इसमें आचार्य की इच्छा ही प्रमाण है।

भारीमलजी ने पट्टोत्सव नहीं मनाया। ऋषिराय ने और जयाचार्य ने पट्टोत्सव मनाया। इसलिए पट्टोत्सव मनाने का कोई अनिवार्य कारण नहीं है।

मन की इच्छा हो तो आचार्य पट्टोत्सव मनाएं। इस विषय में साधु-साध्वियां प्रार्थना के बहाने किञ्चित् मात्र भी आग्रह न करें।

२६ मई
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ८२, शिक्षा री चौपी, ढाल ४.११ से १३

पृच्छा का प्रयोग

जयाचार्य मे 'न्यारा' में विहार कर आने वाले सिंघाड़ों की पृच्छा के निर्देश दिए। उसके आधार पर दो प्रयोग चालू हुए—

१. मौखिक पृच्छा—आचार्य मर्यादा महोत्सव के अवसर पर आने वाले प्रत्येक सिंघाड़े की मौखिक पृच्छा करते हैं।

२. वार्षिक विवरण को ध्यानपूर्वक देखते हैं।

उसके कुछ बिन्दु इस प्रकार हैं—

१. 'मर्यादावली' प्रत्येक चौमासी पक्खी से पहले एक बार मिलकर पढ़ें।

२. 'प्रायश्चित्त विधि' वर्ष में एक बार अग्रणी साधु-साध्वियां पढ़ें।

३. 'मर्यादा पत्र'—हाजरी का पक्ष में एक बार यथासंभव चतुर्दशी के दिन परिषद् में वाचन किया जाए।

४. तपस्या, विगयवर्जन तथा विशेष साधना की तालिका रखें।

५. वस्त्र, दवा आदि जहां से जांचे उसका विवरण रखें।

२७ मई
२००४

दीक्षा देने की अर्हता

तेरापंथ धर्मसंघ में दीक्षा के विषय में अनेक परिवर्तन हुए हैं। उसमें एक विधि यह रही कि यदि आचार्य आज्ञा दें तो कोई भी साधु-साध्वी किसी को दीक्षित कर सकता है।

जयाचार्य ने इस विधि पर चिंतन किया और एक विशेष विधि की ओर ध्यान आकृष्ट किया तथा आचार्य को निर्देश दिया—'जो साधु अथवा साध्वी को दीक्षित कर आचार्य के प्रति प्रतिकूल दृष्टि का निर्माण करता है उसे दीक्षा देने की अनुमति न दे।'

दीक्षा दै गुरु पे रहिवा रा, दै परिणाम उतारी।
तिण नै बलि चारित्र देवा नी, आण म दिये लिगारी॥[1]

बहिर्विहार में दीक्षा देकर अपने पास रखता है, उसकी गुरु के पास रहने की आस्था कम करता है। उस साधु को किसी वैरागी को दीक्षा देने की आज्ञा मत देना।

२८ मई
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ६०, गणपति सिखावण, गाथा ४३

शिष्य प्रथा पर चिंतन

आचार्य भिक्षु ने शिष्यप्रथा का गहराई से अध्ययन किया। उसके बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि अनुशासनहीनता, शिथिलता, लोलुपता अहंकार का हेतु बन रही है। इसलिए यह आदेय नहीं है।

उण रे चेला करण री मन में अति घणी,
तिण सूं गुर रा गुण मुख सूं कह्या न जाय।
रखे मोने छोड़े ले दिख्या गुरु कनै,
एहवी ओघटघाट घाणी घट मांय॥
कोइ गुर री आज्ञा लोपे चेलो करे,
तिण छोड़ी छै जिण सासण री रीत।
ते फिट-फिट होसी समझू लोक में,
परभव में पिण होसी घणो फजीत॥
वैराग घट्यो ने आपो वस नहीं,
तिण रे रहे चेला करण रो ध्यान।
उण ने सिख मिलियां सूं तो शिथल पडे,
बले बधे लोळपणो ने अभिमान॥[१]

किसी साधु के मन में शिष्य बनाने की उत्कट भावना है। वह गुरु के गुणों का वर्णन नहीं कर सकता। वह सोचता है, संकल्प

---

१. विनीत अविनीत री चौपई ढाल १, गाथा ११,१८

विकल्प करता है कि यदि यह गुरु के प्रति आकृष्ट हो गया तो मुझे छोड़कर गुरु के पास दीक्षा लेगा।

कोई साधु गुरु की आज्ञा को लोप कर शिष्य बनाता है। उसने जिनशासन की रीति को त्याग दिया है। उसका न यह लोक अच्छा होगा, न परलोक।

जिसमें वैराग्य की कमी हो गई और अपने पर नियंत्रण नहीं है उसका ध्यान चेला बनाने में रहता है। शिष्य मिलने पर उसका आचार व्यवहार शिथिल हो जाता है, लोलुपता और अभिमान बढ़ जाता है।

२९ मई
२००४

व्यक्ति की पहचान

कुछ साधु संघ के लिए श्रृंगार होते हैं और कुछ साधु संघ के लिए भार। आचार्य का कर्तव्य है कि उन सबके बीच की भेदरेखा का स्पष्ट अनुभव करें और सतत जागरूक रहें।

सासण भार अछै थारे भुज, तू सासण सिणगारी।
तिण कारण तुझ ने चाहिजै, ए ओळखणा सारी॥
सनमुख परमुख गण दीपावै, धर उछरंग अपारी।
प्रत्यनीक सूं प्रीत न राखै, विनयवंत ते भारी॥
गणपति नै सासण रा गुण सुण, हरखै हिया मझारी।
परम प्रीति तिण रै गणपति सूं, तूं ओळखजै सारी॥
गणपति, सासण ना गुण सुण नै, देवै मुंह बिगारी।
ते प्रतिकूल गणपति सूं पूरो, ओळख्या करै विचारी॥[१]

शासन का भार तुम्हारी भुजा पर है। तू शासन का श्रृंगार है। अतः तुम्हारे लिए पहचान आवश्यक है।

अत्यधिक उत्साह से जो मुनि जैसे आगे वैसे पीछे गण की प्रभावना करता है, जो विरोधी विचार वाले से हेत नहीं रखता, वह बहुत विनयशील है।

जो गण और गणपति का गुण सुनकर हर्षित होता है, जिसके आचार्य से अत्यधिक प्रीति होती है, उसकी भी तू अच्छी तरह से

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ६१, गणापति सिखावण, गाथा ४९,५०,५५,५६

पहचान करना।

गण और गणपति के गुणों को सुनकर मुंह बिगाड़ देता है, जो पूर्ण रूप से आचार्य के प्रतिकूल वर्तन करता है, उसकी भी तू विचारपूर्वक पहचान करना।

३० मई
२००४

अग्रणी : कर्तव्यबोध

तेरापंथ की व्यवस्था के अनुसार एक साधु अथवा एक साध्वी अग्रणी होती है। अग्रणी साधु के साथ एक, दो, तीन आदि साधु सहवर्ती होते हैं। अग्रणी साध्वी के साथ दो, तीन, चार आदि साध्वियां सहवर्ती होती हैं।

जयाचार्य ने अग्रणी साध्वियों के कर्तव्य का अंतःस्पर्शीय निर्देश दिया है—

१. सहवर्ती साध्वियों के हित का विचार करना।

२. धर्म संघ के हित का विचार करना।

३. स्वयं के हित का विचार करना।

सतियां ! मुख आगै थंारे आरज्यां,
त्यांरो बंछो सुख हर बार।
सतियां ! बंछो टोळो नै सुख तुम तणो,
तो थे चालो चित अनुसार।।[१]

अग्रणी साध्वियो ! तुम्हारे पास सहवर्ती साध्वियां हैं। तुम हर समय उनका हित चाहती हो, गण का और अपना हित चाहती हो तो आचार्य की दृष्टि के अनुसार वर्तन करो।

३१ मई
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ८७, शिक्षा री चौपी, ढाल ७/१०

शांतिपूर्ण सहवास

जयाचार्य ने साधुओं और साध्वियों को शिक्षा-पद से अनुगृहीत किया। कुछ शिक्षाएं समुच्चय में दी गई हैं। कुछ शिक्षाएं साधुओं को पृथक् और साध्वियों को पृथक् रूप में दी गई हैं।

साध्वियों के लिए एक शिक्षा पद बहुत उपयोगी है, जो शांतिपूर्ण सहवास के लिए अमूल्य है।

सतियां! दंभ कदाग्रह मत करो, वले मत करो वाद विवाद।
सतियां! क्षमा धर्म दिल में धरो, थांरे भव-भव हुवै समाध॥[1]

साध्वियों! दंभ, कदाग्रह, वाद-विवाद मत करो। क्षमा धर्म को दिल में धारण करो। इससे जन्म-जन्मान्तर में तुम्हें समाधि मिलेगी।

१ जून
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ८७, शिक्षा री चौपी, ढाल ७/७

परिचय के प्रति जागरूकता

साधु-साध्वियां आचार्य के पास रहती हैं, किन्तु सब नहीं रह सकती। उन्हें पृथक्-पृथक् क्षेत्रों में भेजना आवश्यक होता है।

आचार्य साधु-साध्वियों को क्षेत्रों में नियुक्ति करते समय उनकी प्रकृति का विमर्श करें। जिन क्षेत्रों में परिचय (रागात्मक संबंध) हुआ हो, वहां से कोई शिकायत न आए, वैसा उन्हें शिक्षण दे। यह साधु-संस्था को सुव्यवस्थित रखने का एक अमोघ उपाय है।

मुनि अज्जा नीं प्रकृति ओळखी, मेलै क्षेत्र मझारी।
परिचय आदि पुकार न आवै, दीजै सीख उदारी॥
कदाचित जो पुकार आयां, बलि तिण स्थानक बारी।
बलि तिण खेत्र विषै मेलै तो, करै विचारण भारी॥
सूकी दोब दीसै पिण घन सूं, हरित हुवै तिणवारी।
तिम वलि तिण खेत्रै तसु मेल्यां, हुवै हरित मोह क्यारी॥[1]

जिस क्षेत्र में साधु-साध्वियों को भेजना हो, उससे पहले उनकी प्रकृति की पहचान करो और उन्हें शिक्षित करो, जिससे रागात्मक परिचय की कोई शिकायत न आए।

कदाचित् शिकायत आने के बाद भी उसी क्षेत्र में भेजना हो तो

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ६२, गणपति सिखावण, गाथा ६७ से ६९

पहले गहराई से विचार कर लो।

सूखी दूब दिखाई दे रही है। बादल बरसने से वह हरित हो जाती है। वैसे ही अभी मोह उपशांत दिखाई दे रहा है पर उस क्षेत्र में जाने पर वह मोह की क्यारी हरी हो जाएगी।

२ जून
२००४

व्यक्ति की पहचान

कुछ व्यक्तियों का दृष्टिकोण नकारात्मक होता है। आलोचनात्मक और व्यंग्यात्मक बात करना तथा कटाक्ष करना उनकी प्रकृति बन जाती है। ऐसे व्यक्तियों की भलीभांति पहचान करना, जिससे उनका कार्य और व्यवहार संघीय उन्नति में बाधक न बने।

कटमी बात करै सासण री,
ते छै जनम बिगाड़ी।
तिणनै रूडी रीत ओळखजै,
धिग् तिण रो जमवारी॥[१]

जो साधु शासन की आलोचनात्मक बात करता है, वह जन्म को बिगाड़ने वाला है। उसका जन्म धिक्कार योग्य है। उसे भलीभांति पहचानो।

३ जून
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ., ६०, गणपति सिखावण, गाथा ४८

केवल योग्य का सम्मान

योग्य व्यक्तियों का सम्मान संगठन के लिए बहुत आवश्यक है। सम्मान किस व्यक्ति का होना चाहिए, यह विवेचनीय विषय है।

जिस साधु-साध्वी का दृष्टिकोण आचार्य के प्रति अनुकूल नहीं होता उसे महत्त्व देना संघ के हित में नहीं होगा।

आचार्य का कर्तव्य है कि अनुकूल और प्रतिकूल का परीक्षण करे और फिर जो अनुकूल है उसी का सम्मान बढ़ाए।

संत सति गणपति सूं अनुकूल, कुरब बधारै भारी।
दिन-दिन अनुकूल अधिको बरतै, तास निरत दिलधारी॥
गणपति नो प्रतिकूल छै तेहने, ओळख करे विचारी।
कुरब वधावा लायक नहीं ए, जाणी तसु दुखकारी॥[१]

जो साधु-साध्वी आचार्य के प्रति अनुकूल है उनका सम्मान बढ़ाना चाहिए। जो दिन प्रतिदिन अनुकूल वर्तन करता है उसे दिल में स्थान देना है।

जो साधु-साध्वी आचार्य के प्रतिकूल हैं उनकी विचारपूर्वक पहचान करना। आचार्य के प्रतिकूल व्यवहार करने वाले सम्मान पाने के योग्य नहीं हैं क्योंकि वे गण के लिए दुःखकारक हैं।

४ जून
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ६०, गणपति सिखावण, गाथा ४५,४६

गंभीर दृष्टि का पर्यालोचन

संघ और संघपति की एकात्मकता संगठन के लिए एक आवश्यक घटक है। आचार्य संघ का नेतृत्व करता है। उसके लिए आवश्यक है संघस्थ व्यक्तियों की पहचान।

जयाचार्य ने अपने उत्तराधिकारी को एक महत्त्वपूर्ण पथदर्शन दिया—कौन साधु-साध्वी गणपति के अनुकूल है और कौन प्रतिकूल, इसकी पहचान खूब गहरी दृष्टि से करना, इसे साधारण मानकर कभी उपेक्षा नहीं करना।

ए गणपति अनुकूल अछै के, प्रतिकूल छै दुखकारी।
उंडी दृष्टि करी ओलखजै, सहज म गिणै लिगारी॥[1]

कौन साधु-साध्वी आचार्य के अनुकूल है और कौन प्रतिकूल है, इसकी पहचान गंभीर दृष्टि से करना, इसे सामान्य मानकर उपेक्षित नहीं करना।

५ जून
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ६०, गणपति सिखावण, गाथा ४४

स्वार्थातीत चेतना

स्वार्थ बहुत बड़ी प्रेरणा है। उसका अपना मूल्य है। इसे कभी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

जयाचार्य ने परमार्थशून्य स्वार्थ से होनेवाली समस्या पर विचार किया और अपनी अनुभव की वाणी में कहा– अपना स्वार्थ न सधे उस समय मानसिक कलुषता न आए, यह अनुशासन और संगठन के लिए बहुत आवश्यक है।

संतां! स्वारथ पूगै आपरो, स्वारथ पूगै नहीं किण बार।
संतां! कलुष भाव मत आदरो, थांरै होसी लाभ अपार॥[1]

साधुओ! कभी तुम्हारे स्वार्थ की पूर्ति होती है, कभी नहीं। स्वार्थ की पूर्ति न होने पर भावों को कलुषित मत करो। इससे तुम्हें अत्यधिक लाभ होगा।

६ जून
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ८८, शिक्षा री चौपी, ढाल ८.११

वीतराग साधना का संकल्प

जैन मुनि का लक्ष्य वीतराग साधना है। इसलिए राग-द्वेष की स्थितियों से दूर रहना उसका परम धर्म है। किंतु उपशम की साधना के अभाव में राग-द्वेष को बढ़ाने वाली प्रवृत्तियां भी साधु-संस्था में चलती थी। उसे ध्यान में रखकर आचार्य भिक्षु ने कुछ विशेष निर्देश-सूत्र दिए–

'बलै अनेक बोलां री करली मर्यादा बांधै ते पिण कबूल छै। ना कहिण रा त्याग छै। हिवै कर्म जोगे किण सूं इ आचार गोचार न पळै, मांहोमां स्वभाव न मिलै, तिण नै साध टोळा बारे काढै अथवा क्रोध वस टोळा थी अलगी परै तका तो कर्म वस अनेक झूठ बोलै, कूड़ा-कूड़ा आल दे अथवा केइ भेषधास्यां मांहै जाए तिण तो अनंत संसार आरै कीधो।[1]

पुनः आचार्य अनेक बोलों के विषय में कठिन मर्यादा का प्रबंध करे वह भी स्वीकार करे, मना करने का त्याग है। कर्म योग कारण किसी से आचार-गोचर न पले, परस्पर स्वभाव न मिले। इस स्थिति में आचार्य उसे गण से पृथक करे अथवा क्रोध के वशीभूत होकर स्वयं गण से अलग हो जाए तब वह कर्मवश अनेक झूठ बोले। झूठा-झूठा आरोप लगाए अथवा कोई वेशधारियों के पास चला जाए उसने तो अनंत संसार को निमंत्रण दिया है। उत्तम जीव उसकी बात न माने।

७ जून
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४३८, सं. १८३४ के लिखत का अंश

सहन करने की शक्ति

जिस मुनि में सहन करने की शक्ति होती है वह आचार्य के लिए आधार बनता है। वैसा मुनि सागर की भांति गंभीर, मेरु पर्वत की भांति अडोल और शासन का स्तंभ होता है। सबको प्रिय लगता है और उसका पूरे धर्मसंघ में तोल-मोल बढ़ता है।

गे'रा सायर सारिखा, सुरगिरी जेम अडोल।
सासण स्तंभ सुहामणां, त्यांरा च्यार तीरथ में तोल॥
एहवा शिष्य सुवनीत रो, सर्वकार्य में सार।
गणपति नैं आधार दै, धरा सहे जिम भार॥[1]

सहनशील मुनि सागर की भांति गंभीर, मेरु पर्वत की भांति अडोल और शासन का स्तंभ होते हैं। उनका चार तीर्थ में मोल बढ़ता है।

ऐसा सुविनीत शिष्य सबको प्रिय लगता है। वह आचार्य के लिए आधार और पृथ्वी की भांति भार को वहन करने वाला होता है।

८ जून
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. १११, शिक्षा री चौपी, ढाल १९.४,६

विश्वास उपजाने का मंत्र

किसी साधु के प्रति गुरु के मन में अप्रतीति हो जाए तो उसका जीवन डांवाडोल स्थिति में बीतता है। वैसा स्वयं के लिए और संगठन के लिए भी अच्छा नहीं है। आचार्य भिक्षु ने प्रतीति उपजाने के कुछ गुर बतलाए हैं। वे विश्वास पैदा करने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है।

जो तूं सरल छै नहीं अनाखी, तो तूं च्यार तीर्थ दे साखी।
जो थारे रहणो छै गण मांय, तो इण विध परतीत उपजाय॥
इम सांभळ ने सुविनीत, विनै सहित बौले रूड़ी रीत।
आप कहो तिण ने साखी देऊं, आप कहो तिको सूंस लेऊं॥
कदा कर्म जोगे परूं न्यारो, तो ओरां नै न ले जाऊं लारो।
कोई आपै आवे म्हारें लार,तिणसूं भेळो नहीं करूं आहार॥
साध साधवियां री बात, उतरती न करूं तिलमात।
बले मांहोमां कलह लागे, किण री नहीं कहूं किण ही आगे॥
इण विध रहूं गण मझारो, किण रा ओगुण न बोलूं लिगारो।
एहवा सूंस करावो आप, च्यार तीर्थ नै साखी थाप॥[1]

यदि तू सरल नहीं है, तुझ पर विश्वास करना कठिन है। इस स्थिति में तू चार तीर्थ को साक्षी बना। यदि तुझे गण में रहना है तो इस प्रकार विश्वास उत्पन्न करने का प्रयत्न कर।

---

[1] विनीत अविनीत री ढाल, ढाल २ गाथा २१ से २३,२५,२६,

आचार्य का यह वाक्य सुनकर सुविनीत मुनि विनय सहित बोलता है—आप बतलाएं उसको मैं साक्षी बनाऊं। जो आप कहें, वह संकल्प करूं।

कदाचित् कर्मवश गण से अलग हो जाऊं तो किसी दूसरे साधु को साथ नहीं ले जाऊंगा। कोई अपने आप मेरे पीछे आ जाए तो उसके साथ मैं आहार नहीं करूंगा।

मैं साधु-साध्वियों की उतरती बात नहीं करूंगा और परस्पर कलह पैदा हो, ऐसी किसी एक की बात दूसरे के सामने नहीं करूंगा।

इस भावना के साथ गण में रहूंगा। किसी का अंश मात्र भी अवगुण नहीं बोलूंगा। चार तीर्थ को साक्षी करके आप मुझे ऐसा संकल्प कराएं।

९ जून
२००४

नियोजन का सूत्र

नेतृत्व का एक महत्वपूर्ण अंग है नियोजन। किस व्यक्ति को किसके साथ नियोजित करें, जिससे साथ में रहने वाले सब व्यक्तियों का हित हो।

जयाचार्य ने मघवा और सभी भावी आचार्य को निर्देश दिया—'तुम गहरी दृष्टि से व्यक्तियों की पहचान करना और जो दलबंदी कर रहा हो उन्हें साथ में मत रखना।'

आपस में जिल्लो कोई बांधे, ओलखजै तसु जारी।
तेहनें भेला तूं मत राखैं, अवसर देख उदारी॥[1]

परस्पर कोई दलबंदी करे तो उनकी पहचान करना। उन्हें साथ में मत रखना। अवसर देखकर जैसा उचित लगे वैसा

करना।

१० जून
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ६०, गणपति सिखावण, गाथा ४७

संस्कार निर्माण का सूत्र

आचार्य भिक्षु ने संस्कार निर्माण की जिस प्रक्रिया को अपनाया था उसे जयाचार्य ने बहुत आगे बढ़ाया।

संस्कार निर्माण का एक सूत्र है मस्तिष्कीय धुलाई (Brain Washing)। किसी एक बात को लक्ष्यपूर्वक निष्ठा के साथ दोहराया जाता है उसका संस्कार निर्मित होता है।

जयाचार्य ने संस्कार निर्माण की दृष्टि से मघवा को निर्देश दिया—जो साधु-साध्वी आचार्य के पास रहें उन्हें प्रतिदिन हाजरी (मर्यादा पत्र) सुनाना और प्रतिदिन लेखपत्र पर हस्ताक्षर करना। अन्यत्र विहार करने वाले के लिए भी यह व्यवस्था थी।

कन्है रहै जे मुनिवर अज्जा, राखै निजर मझारी।
सदा हाजरी तास सुणावै, आलस अंग निवारी॥
उगणीसै पनरै मर्यादा, बांधी ए हितकारी।
नित्यप्रति लिखनै मुनि सुणावै, ए दृढ़ राखै भारी॥
सेखै काल चउमास सिंघाडै, संत सती सुखकारी।
नित्य हाजरी अक्षर लिखणा, पूछ करै निरधारी॥[1]

जो साधु-साध्वियां आचार्य के पास रहे, उन्हें ध्यान में रखना। उन्हें प्रतिदिन हाजरी (मर्यादा पत्र) सुनाना। इसमें आलस्य नहीं करना।

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ६ गणापति सिखावण, गाथा ५८,५९,६१

वि. सं. १८१५ में इस मर्यादा का निर्माण किया कि मुनि प्रतिदिन लेख पत्र सुनाए। इसे दृढ़ता के साथ चालू रखना।

सिंघाड़ों में विहार करने वाले साधु-साध्वियां शेष काल और चतुर्मास में प्रतिदिन हाजरी का वाचन करते हैं और लेखपत्र में हस्ताक्षर करते हैं। इसकी पृच्छा करना।

११ जून
२००४

स्वभाव परिवर्तन का निर्देश (१)

आचार्य भिक्षु ने अनुभव किया कि साध्वियों में प्रकृति की कठिनाई अधिक है। उन्हें शिक्षा, व्यवस्था और निर्देश के द्वारा प्रशिक्षित करना आवश्यक है। इस आवश्यकता को ध्यान में रखकर उन्होंने साध्वियों के लिए सं. १८३४ का लिखत लिखा। उसमें भाषायी व्यवहार की व्यवस्था की।

'मांहां मांही आर्य्यां आर्य्यां नै तूंकारा दे तिण नै पांच दिन पांचू विगै रा त्याग छै।'

'जितरा तूंकारा काढ़ै जितरा पांच-पांच दिन रा विगै रा त्याग।'

'तूं झूठा बोली छै, एहवा वचन काढै जितरा पांच-पांच दिन विगै रा त्याग।'[1]

साध्वियां परस्पर एक दूसरे को 'तूंकारा' दे तो उसे पांच दिन पांच विगय खाने का त्याग है।

जितनी बार तूंकारा दे उतनी बार पांच-पांच दिन विगय का त्याग है।

'तूं झूठा बोली छै' ऐसा वचन मुख से निकाले तो जितनी बार निकाले उतनी बार पांच-पांच दिन विगय का त्याग है।

१२ जून
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४३८, सं. १८३४ के लिखत का अंश

स्वभाव परिवर्तन का निर्देश (२)

अनुशासन के लिए आवश्यक है स्वभाव परिवर्तन, अच्छे स्वभाव का निर्माण। अयोग्य स्वभाव वाला स्वयं असमाधि में रहता है और दूसरों की समाधि को भी भंग करता है।

अयोग्य स्वभाव वाले व्यक्ति के लिए आचार्य भिक्षु ने दिशा बदलने वाला पथदर्शन दिया है।

'बलै किण ही रो सभाव अजोग हुवै, तिण नै कोइ टोळा मांहै बेठण वाळो नहीं, साथै ले जावै नहीं, जद उणनै पेला ने घणी परतीत उपजावणी। घणी नरमाई करनें हाथ जोड़नै कहिणो—थे मने निभावो यूं कहि नै साथे जाणो। आगलो चलावै ज्यूं चालणो। जको काम भळावै ते करणो। उणनै घणों रीझाय ने रहिणो। जो अतरी आसंग विनो नरमाइ करण री न हुवै तो संलेखणा मांडणो। वेगो कारज सुधारणो। जो दोयां बोलां मांहिलो एक बोल पिण आरै न हुवै तो उण सूं कलेश कर-कर नै कुण जमारो काढसी।'[1]

किसी का स्वभाव अयोग्य होता है, उसका गण में किसी के साथ ताल-मेल नहीं बैठता, कोई उसे साथ नहीं ले जाता है, तब उसे पहले प्रतीति करानी चाहिए। अत्यधिक विनम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर कहना—आप मुझे निभाओ ऐसा कहकर साथ जाना। जिसके साथ जाए वह जैसा चलाए वैसा चलना, जो काम सौंपे

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ४४१, सं. १८४५ के लिखत का अंश।

वह करना। उसे बहुत प्रसन्न कर रहना। विनय और नम्रता करने की इतनी शक्ति न हो तो संलेखना स्वीकार करे, जिससे शीघ्र ही कार्य सुधरे वैसा करना।

यदि दोनों बातों में से एक बात भी मान्य नहीं करे तो उसे साथ में रखकर क्लेश कर कौन जीवन बिताएगा।

१३ जून
२००४

मुझे शिक्षा दो (१)

शिष्य ने गुरु के पास आकर कहा—मैं आपकी शरण में हूं, आप मुझे अच्छी शिक्षा दें।

गुरु ने कहा—शिष्य! जो सुविनीत है उसका संग करो, जो अनुशासित है उसका संग करो। उससे तुम्हारा चरित्र और सम्यक्त्व दृढ़ होगा। ज्ञान आदि विशिष्ट गुणों की वृद्धि होगी।

शिष्य उवाच—

होजी स्वामी! सरणे आयो गणनाथ।
सीखडली आछी आपो, म्हांरा स्वाम!।
होजी स्वामी! परम उपगारी मुझ आप,
अविचळ थिर पद थापो, म्हांरा स्वाम!॥

गुरु उवाच—

हां रे चेला! सुवनीतां रो कीजै संग,
वारूं जस कीरत बाधे, म्हांरा शिष्य!।
हां रे चेला! चरण समकित दिढ होय,
ज्ञानादिक वर गुण लाधे, म्हांरा शिष्य!॥[१]

शिष्य उवाच—

हे गुरुदेव! मैं आपकी शरण में आया हूं। आप मुझे शिक्षा दें। आप मेरे परम उपकारी हैं। अविचल सुख के शाश्वत पद में मुझे

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ९७, शिक्षा री चौपी, ढाल १४.१,२

स्थापित करें।

गुरु उवाच–

हे शिष्य! अनुशासित व्यक्तियों का संग करना, जिससे यश और कीर्ति बढ़े, चारित्र और सम्यक्त्व दृढ़ हो जाए तथा प्रवर ज्ञान आदि गुण विकसित हों।

१४ जून
२००४

मुझे शिक्षा दो (२)

शिष्य ने कहा–एक समस्या है। अविनीत व्यक्ति बहुत हेत (प्रेम) करता है और मीठी-मीठी बातें कहकर ललचाता है। उस समय उसके प्रति आकर्षण हो जाता है। इस समस्या को कैसे सुलझाएं?

आचार्य ने कहा–उस समय यह विचार करना चाहिए कि यह क्षुद्र है, दुःखदायी है। वह आचार्य के प्रति प्रत्यनीकता का भाव रखता है। इसलिए उसके साथ प्रीति रखने से प्रतिष्ठा कम हो जाती है।

शिष्य उवाच–

हो जी स्वामी! अवनीत हित करै आय,
ललचावै मीठो बोली।
हो जी स्वामी! स्यूं करिवो गणनाथ!
आखीजै सीख अमोली।।

गुरु उवाच–

हां रे चेला! मन में विचारणो एम,
दुःखदाई खुद्र घणो है, म्हांरा शिष्य!।
हां रे चेला! इण स्यूं पीत कियां पत जाय,
गणि स्यूं प्रतनीकपणो है, म्हांरा शिष्य!।।

हां रे चेला! हित करणो नर देख,
गणपति नों कुरब निहाली, म्हांरा शिष्य!
हां रे चेला! परम विनीत संपेख,
तसु संगति सिव! पटशाली, म्हांरा शिष्य!॥[1]

शिष्य उवाच–

गुरुदेव! कोई अविनीत प्रेम करता है, मीठा बोल कर ललचाता है, उस समय मुझे क्या करना चाहिए? इस विषय में आप मुझे अमूल्य शिक्षा दें।

गुरु उवाच–

हे शिष्य! मन में विचार करो, 'यह अनुशासनहीन व्यक्ति दुःखदायी और बहुत क्षुद्र है।' उससे प्रीति करने से प्रतीति चली जाती है। उसके मन में अनुशास्ता के प्रति विरोध का भाव है।

हे शिष्य! मनुष्य को देखकर प्रेम करना चाहिए। अनुशास्ता उसका कैसा मूल्यांकन करते हैं, यह भी देख लेना चाहिए। जो परम अनुशासित होता है, उसकी संगति मोक्ष-मंदिर की पृष्ठ शाला है।

१५ जून
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ९७, शिक्षा री चौपी, ढाल १४.४,५

मुझे शिक्षा दो (३)

शिष्य ने कहा—गुरुदेव! मैं एक विषय में मार्गदर्शन चाहता हूं—आचार्य कभी कोमल वचन से सीख देते हैं कभी कठोर वचन से, उस समय मुझे क्या करना चाहिए।

आचार्य ने कहा—उस समय यह चिंतन करना चाहिए कि आचार्य मुझे मेरे हित के लिए सीख दे रहे हैं। जो सुविनीत शिष्य है वह यही चिंतन करता है कि आचार्य मेरे साध्य की सिद्धि के लिए सीख दे रहे हैं इसलिए मुझे सीख के समय समचित्त रहना चाहिए।

शिष्य उवाच—

हो जी स्वामी! गणपति सुगुरु सुजाण,
सीखड़ली दै किण बारे, म्हांरा स्वाम!
हो जी स्वामी! कोमल कठिन विचार,
चिंतवणो स्यूं तिण वारे, म्हांरा स्वाम॥

गुरु उवाच—

हां रे चेला! मुझ हित काज महाराज,
सीखड़ली मुझ नैं देवै, म्हांरा शिष्य।
हां रे चेला! साधण सिवपुर राज,
सुविनीत इसी मन वेवै! म्हांरा शिष्य!॥[1]

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ९८, शिक्षा री चौपी, ढाल १४/ ६,७

शिष्य उवाच–

गुरुदेव! आचार्य कोमल या कठोर वचन द्वारा कभी शिक्षा दे, उस समय क्या चिंतन करना चाहिए?

गुरु उवाच–

शिष्य! 'अनुशास्ता मेरे हित के लिए मुझे मोक्षनगर तक पहुंचाने वाली शिक्षा दे रहे हैं।' ऐसा चिंतन करना चाहिए।

१६ जून
२००४

मुझे शिक्षा दो (४)

शिष्य ने कहा—गुरुदेव! कभी-कभी क्रोध आ जाता है, उसे विफल कैसे किया जाए?

आचार्य ने कहा—क्रोध के फल पर विचार करो और गहरी दृष्टि से देखो। क्रोध को विफल करने का यह एक प्रवर प्रयोग है।

इसका दूसरा उपाय है—समता रस का पान करो। इससे क्रोध का विष निर्वीर्य हो जाएगा।

शिष्य उवाच—

हो जी स्वामी! क्रोध आवै किण वार,
किण विध ते निरफल कीजे, म्हांरा स्वाम!

गुरु उवाच—

हां रे चेला! क्रोध कटुक फल न्हाल,
समता रस मन में पीजे, म्हांरा शिष्य![1]

शिष्य उवाच—

गुरुदेव! कभी क्रोध आ जाता है, उसे विफल कैसे करूं?

गुरु उवाच—

शिष्य! क्रोध के कटुक परिणामों को देखकर समता-रस का पान करो।

१७ जून
२००४

---

१. तें. म. व्यवस्था, पृ. ९८, शिक्षा री चौपी, ढाल १४.८

गुरु उवाच–

हां रे चेला! बाल वृद्ध बहु संत,
रंगरत्ता सासण मांह्यो, म्हांरा शिष्य!
हां रे चेला! फल्या-फूल्या रहै जेह,
तसु दिन सुख मांहे जायो, म्हांरा शिष्य!॥[1]

गुरु उवाच–

शिष्य! बाल, वृद्ध और बहुत संत गण में अनुरक्त रहते हैं, फले-फूले रहते हैं। उनके दिन सुखपूर्वक व्यतीत होते हैं।

१८ जून
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ९८, शिक्षा री चौपी, ढाल १४.११

मुझे शिक्षा दो (५)

शिष्य ने कहा—गुरुदेव! गण में कुछ साधु हैं जो बहुत सुख का अनुभव करते हैं और प्रसन्न रहते हैं। कुछ साधु ऐसे हैं जो गण में रहते हुए दुःख का अनुभव करते हैं। ऐसा क्यों होता है?

आचार्य ने कहा—जो साधु-साध्वियां शासन में अनुरक्त हैं वे प्रसन्न रहते हैं और उनके दिन सुख में बीतते हैं।

जो साधु-साध्वियां आचार्य-शिक्षा का सम्यक् ग्रहण नहीं करते और गण में रहते हुए भी प्रसन्न नहीं रहते, उनके दिन दुःख में बीतते हैं।

मुझे शिक्षा दो (६)

शिष्य नें एक प्रश्न और उपस्थित किया—गुरुदेव! इस युग में आचार्य भिक्षु का गण भाग्य योग से हमें प्राप्त हुआ है फिर कोई मुनि दुःख का वेदन क्यों करता है? यदि आपको कष्ट न हो तो मुझ पर प्रसाद करें और उत्तर दें।

आचार्य ने कहा—जिस मुनि के मन में शब्द आदि विषयों की प्यास होती है और उसकी तृप्ति नहीं होती तब गण में रहता हुआ भी दुःख का वेदन करता है ।

क्रोध आदि कषाय ज्ञान आदि गुणों का छेदन करने वाले हैं। जिसका कषाय प्रबल है वह कषाय की प्रबलता के कारण दुःख का वेदन करता है।

शिष्य उवाच—

हो जी स्वामी! स्वाम भिक्षु गण सार,
नरकादिक ना दुःख छेदै।
म्हांरा स्वाम!
हो जी स्वामी! भाग्य योग आयो हाथ,
किण कारण औ दुःख वेदै॥
म्हांरा स्वाम!
हो जी स्वामी! मुझ पर करो प्रसाद,
वीनतड़ी मुझ मानीजै।
हो जी स्वामी! कहता किलामनां न होय,
(तो) किरपा कर आप कहीजै॥

गुरु उवाच–

हां रे चेला! इण रे शब्दादिक री चाय,
मन मांहि अधिक उमेदै, म्हांरा शिष्य!
हां रे चेला! जोग मिले नहीं ताय,
तिण कारण ओ दुःख वेदै, म्हांरा शिष्य!
हां रे चेला! क्रोधादि च्यार कषाय,
ज्ञानादिक गुण नें भेदै, म्हांरा शिष्य!
हां रे चेला! (तिणरै) जबर कषाय नों जोर,
तिण कारण ओ दुःख वेदै। म्हांरा शिष्य![1]

शिष्य उवाच–

गुरुदेव! दुःखों का उच्छेद करनेवाला यह भिक्षु गण भाग्य योग से हाथ में आया है, फिर वह (अविनीत) दुःख का वेदन क्यों करता है?

गुरुदेव! मुझ पर प्रसाद करें। मेरी प्रार्थना स्वीकार करें। यदि कहने में आपको कष्ट न हो, तो कृपा कर आप मुझे बताएं।

गुरु उवाच–

शिष्य! वह प्रिय शब्द आदि विषयों की मन में चाह लिए बैठा है। उनका योग नहीं मिलता, इसलिए वह दुःख का वेदन करता है।

शिष्य! क्रोध आदि चार कषाय ज्ञान आदि गुणों का भेदन करने वाले हैं। उसके कषाय का प्रबल योग है, इसलिए वह दुःख का वेदन करता है।

१९ जून / २००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. १००, शिक्षा री चौपी, ढाल १४.२२,२३

मुझे शिक्षा दो (७)

शिष्य ने पूछा–गुरुदेव! सुख का अनुभव कैसे हो सकता है?

आचार्य ने इस प्रश्न का सीधा उत्तर दिया–प्रकृति को सुधारो, सुख उपलब्ध हो जाएगा। सुख की अनुभूति के लिए आवश्यक है–

१. आशा, तृष्णा को दूर करना

२. सुविनीत के अनुकूल व्यवहार करना

३. अनुशासन पर ध्यान केन्द्रित करना।

सुख तो होवै छै प्रकृति सुधारिया रे,
आसा तृष्णा नें दूर निवार रे।
सुवनीत चित कैड़े वरते सदा रे,
सासण ऊपर दृष्टि सुधार रे॥[1]

सुख तो प्रकृति का सुधार होने पर होता है। सुविनीत मुनि आशा तृष्णा को दूर कर आचार्य के निर्देशानुसार वर्तन करता है और शासन पर उसकी दृष्टि समीचीन होती है।

२० जून
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. २६४, शिक्षा री चौपी, ढाल १६.१

प्रकृति की जटिलता

आचार्य भिक्षु स्वभाव परिवर्तन की कठिनाई से परिचित थे। बदलने का प्रयत्न अवश्य करें किन्तु बदलने में आने वाली कठिनाई को आंख से ओझल न करें। उन्होंने प्रकृति की जटिलता की प्याज की गंध से तुलना की है।

कांदा नै सौ बार पाणी सूं धोवियां, तो ही न मिटे तिणरी वास।
ज्यूं अविनीत नै गुर उपदेस दीये घणो, पिण मूळ न लागे पास॥
कांदा री तो वास धोयां मुधरी पड़े, पिण निरफळ हे अविनीत नै उपदेश।
जो छेड़वै तो अवनीत अवळो पडै घणो, उण रे दिन-दिन अधिक कलेस॥[1]

प्याज को सौ बार पानी से धोने पर भी गंध नहीं मिटती। इसी प्रकार अविनीत को गुरु कितना ही अधिक उपदेश दें, उसकी आदत नहीं बदलती।

प्याज को धोने पर उसकी गंध मंद हो जाती है पर अविनीत को उपदेश देना निष्फल होता है। यदि अविनीत को छेड़ा जाए तो वह विपरीत व्यवहार करने लग जाता है, उसके मन में प्रतिदिन क्लेश बढ़ता जाता है।

२१ जून
२००४

विनीत अविनीत री चौपई, ढाल ३ गाथा २९,३०

प्रकृति की क्षुद्रता (१)

जयाचार्य ने प्रकृति का विश्लेषण बहुत सूक्ष्मता के साथ किया है। उन्होंने प्रकृति के दो वर्ग किए हैं—

१. खोड़ीली (क्षुद्र) प्रकृति

२. चोखी (अच्छी) प्रकृति

कोई मुनि पढ़-लिख कर होशियार हो गया और प्रकृति अच्छी नहीं है तो उसके चरित्र की नौली में केवल एक रुपया है। निन्यानवें रुपयों से वह खाली रहता है। इसका निष्कर्ष है कि कोरी Intelligency नहीं Emotional Intelligency अधिक आवश्यक है।

पायो रूपइयो एक, पंडित थयो भणी।
पिण प्रकृति निनाणूं रह्या शेष, खोड़ीली प्रकृति नों धणी॥[1]

सौ रुपयों की नौली (थैली) है। पढ़कर पंडित हो गया, थैली में एक रुपया आया। प्रकृति अच्छी नहीं है, तो निन्यानवें रुपये बाकी रह गये। वह क्षुद्र-प्रकृति वाला है।

२२ जून
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ७२, शिक्षा री चौपी, ढाल २.२५

प्रकृति की क्षुद्रता (२)

जिसकी प्रकृति अच्छी नहीं होती, जिसमें भावात्मक विकास नहीं होता, वह दूसरों के साथ स्पर्धा करता है। स्वयं में योग्यता नहीं होती स्वयं पर अपना नियंत्रण नहीं होता, इस स्थिति में उसे मानसिक शांति की प्राप्ति नहीं होती। प्रकृति की क्षुद्रता का यह निर्घृण उपहास है।

करै अवरां री होड, (निज) आतमवश ना वणी।
ते किम पामै सुख, खोड़ीली प्रकृति नों धणी॥[१]

वह दूसरी की होड़ करता है पर अपने आपको वश में नहीं रख पाता। वह कैसे सुख पाएगा? वह क्षुद्र-प्रकृति वाला है।

२३ जून
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ६३, शिक्षा री चौपी, ढाल २/३१

प्रकृति की क्षुद्रता (४)

जयाचार्य ने प्रकृति की क्षुद्रता के अनेक लक्षण बतलाए हैं। उनमें निम्न निर्दिष्ट लक्षणों का संकलन भी उनकी सूक्ष्म दृष्टि को सूचित करता है–

१. इन्द्रिय विषय की लोलुपता

२. प्रिय और अनुकूल स्थिति की वांछा

३. सुखशील होना।

लोळपणौं अधिकाय, साता नीं वांछा घणी।
सुखशीलियो साख्यात, खोड़ीली प्रकृति नों धणी॥[१]

जो इंद्रिय विषयों का लोलुप है, प्रिय और अनुकूल स्थिति की वाञ्छा करता है और जो सुखशील है, वह क्षुद्र-प्रकृति वाला है।

२५ जून
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ७४, शिक्षा री चौपी, ढाल २.४१

प्रकृति की क्षुद्रता (५)

कुछ अग्रणी प्रमाद भी करते हैं और उसे छिपाना भी चाहते हैं। वे अपने सहवर्ती साधु-साध्वियों से कहते हैं कि मेरे सिंघाड़े की बात गुरु को मत कहना। यदि कोई उसके सिंघाड़े की बात बता देता है तो उसके साथ निषेधात्मक व्यवहार करता है।

म्हांरा सिंघाड़ा नी बात, कहणी नहीं गुरु भणी।
ते भेष ले हुवो खराब, खोड़ीली प्रकृति नों धणी॥
खामी कहै गुरु ने कोय, तास सिंघाड़ा तणी।
तो तिण ने निषेधे मूढ़, खोड़ीली प्रकृति नों धणी॥[१]

अग्रणी अपने सहवर्ती साधु-साध्वियों से कहते हैं कि मेरे सिंघाड़े की बात गुरु को मत कहना। वह साधु का वेष पहन कर खराब हुआ है। वह क्षुद्र-प्रकृति वाला है।

यदि कोई उसके सिंघाड़े की बात गुरु को बता देता है तो वह उसके साथ निषेधात्मक व्यवहार करता है, वह क्षुद्र-प्रकृति वाला है।

२६ जून
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ७४, शिक्षा री चौपी, ढाल २.४७,४८

प्रकृति की क्षुद्रता (६)

कुछ मुनि ऐसे होते हैं जो साधारण क्षेत्रों में रहना नहीं चाहते। वे सदा सुविधावादी क्षेत्रों की खोज करते रहते हैं। आचार्य जहां चतुर्मास का निर्देश देते हैं उसे टालने का प्रयत्न करते हैं। ये सब क्षुद्र प्रकृति के लक्षण हैं।

निशि दिन बांछा तास, ताजा खेत्रां तणी।
नहीं आज्ञा उपर तीखी दिष्ट, खोड़ीली प्रकृति नों धणी।।[१]

सुविधावादी क्षेत्रों की खोज करता है। आचार्य जहां चतुर्मास का निर्देश देते हैं उसे टालने का प्रयत्न करता है। वह क्षुद्र-प्रकृति वाला है।

२७ जून
२००४

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ७४, शिक्षा री चौपी, ढाल २.५४

प्रकृति की महानता (१)

जिसकी प्रकृति चोखी (अच्छी) है, वह यदि बहुत पढ़ा लिखा नहीं है तो प्रकृति विवेचन के आधार पर जयाचार्य ने कहा—उसकी नौली में निन्यानवें रुपए हैं, अध्ययन का एक रुपया नहीं है।

क्षुद्र प्रकृति और अच्छी प्रकृति का तुलनात्मक अध्ययन करने पर निष्कर्ष निकलता है कि पढ़ाई का जो मूल्य है उससे कहीं अधिक उदात्त प्रकृति का मूल्य है।

पाया रुपइया निनाणूं, प्रकृति सुध जेह तणी।
रह्यो भणवा रो रुपइयो एक, चोखी प्रकृति नों धणी।।[१]

सौ रुपयों की नौली (थैली) है। प्रकृति अच्छी है, तो निन्यानवें रुपये उसमें आ गए। केवल पढ़ाई का एक रुपया बाकी रहा है। वह उत्तम-प्रकृति वाला है।

२८ जून
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ७८, शिक्षा री चौपी, ढाल ३.२७

प्रकृतिं की महानता (२)

जो मुनि विनीत होता है, वह विनीत से ही प्रीति करता है, मैत्री करता है। उदात्त प्रकृति वाले मुनि का चरित्र पारदर्शी होता है। वह क्षुद्रता की वृत्ति और परिणामों का अध्ययन करता है और अपने सहवर्ती साधुओं से कभी नहीं कहता कि मेरे सिंघाड़े की बात को तुम छिपाना। कोई मुनि खामी की बात गुरु को कहता है तो वह उस साधु की सराहना करता है, तुमने भूल का शोधन करने के लिए अच्छा काम किया है।

प्रकृति की क्षुद्रता और महानता का विश्लेषण उदात्त प्रकृति के निर्माण का बहुमूल्य सूक्त है। इसका मंत्र की भांति जप किया जाए तो अच्छे व्यक्तित्व का निर्माण किया जा सकता है।

राखो छानी बात, म्हारै सिंघाड़ा तणी।
इसड़ो अदल साहूकार, चोखी प्रकृति नों धणी॥
जो कहै गुरां नैं जाय, खामी सिंघाड़ा तणी।
तिण नैं सरावै सुजान, चोखी प्रकृति नों धणी॥
प्रकृति खोड़ीली मेट, पामें संपति घणी।
भव-भव सुखियो थाय, चोंखी प्रकृति नों धणी॥[1]

मेरे सिंघाड़े की कोई भी बात छिपाकर रखने की आवश्यकता

---

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ७९, शिक्षा री चौपी, ढाल ३.५३,५४,५६

नहीं है, जब चाहो तब आचार्य को बता सकते हो'—जो ऐसा पूरा साहूकार है, वह उत्तम-प्रकृति वाला है।

कोई उसके वर्ग की खामी गुरु को बता देता है, तो उसकी सराहना करता है। वह उत्तम-प्रकृति वाला है।

उत्तम प्रकृति वाला मुनि क्षुद्र प्रकृति को मिटाकर बहुत सम्पत्ति को प्राप्त होता है तथा भव-भव में सुखी होता है।

२९ जून
२००४

प्रकृति की महानता (३)

जिस मुनि की दृष्टि गुरु की आज्ञा पर केंद्रित होती है उसकी प्रकृति अपने आप महान बन जाती है।

प्रकृति को क्षुद्र बनाने का प्रमुख कारण है पौद्‌गलिक सुख की प्यास । इस प्यास को बुझाने का सहज उपाय है गुरु की आज्ञा का अनुपालन। इस आधार पर यह कहना संगत है कि जिसकी दृष्टि गुरु की आज्ञा पर केन्द्रित होती है उसकी प्रकृति महान बन जाती है।

सुगुरु तणीं वर आण, ऊपर दृष्टि अति घणीं।
छांडे पुद्‌गल प्यास, चोखी प्रकृति नों धणी॥[१]

जिस मुनि की दृष्टि गुरु की आज्ञा पर केंद्रित होती है उसकी पौद्‌गलिक प्यास शांत हो जाती है, ऐसा व्यवहार प्रकृति को उत्तम बना देता है।

३० जून
२००४

१. ते. म. व्यवस्था, पृ. ७९, शिक्षा री चोपी, ढाल ३.४४

आचार्य भिक्षु के भाष्यकार श्रीमज्जयाचार्य ने अनुशासन और संगठन के सूत्रों को विस्तार दिया है। अट्ठाईस हाजरी—साधु-साध्वियों की उपस्थिति में मर्यादा पत्र के वाचन का सृजन कर प्रकीर्ण रत्नों को एक माला में गुंफित किया है। उन मालाओं से संगठन का वक्ष आज भी सुशोभित हो रहा है।

जयाचार्य ने एक मनश्चिकित्सक की भांति मानसिक रोगी की नब्ज पर हाथ रखा और उसका सम्यक् उपचार किया।

आचार्य भिक्षु, जयाचार्य—इन दोनों महान् आचार्यों के अनुशासन-सूत्रों को आधुनिक रूप देने का कार्य किया आचार्य तुलसी ने। 'हाजरी', 'लेखपत्र', 'मर्यादावलि' आदि रूपों में उनके अवदानों का साक्षात किया जा सकता है।

तेरापंथ की यह त्रिवेणी वास्तव में अनुशासन और संगठन की त्रिवेणी है। इसमें निष्णात व्यक्ति अनुशासन को तिलक बना कर विकास की दिशा में आगे बढ़ सकता है।